विपस्सी साधक के प्रेरणार्थ

धर्म
जीवन जीने की कला

आचार्य श्री एस. एन. गोयन्का

प्रकाशक : सयाजी ऊबा किन मेमोरियल ट्रस्ट, मुंबई २३

धर्म-
जीवन जीने की
कला
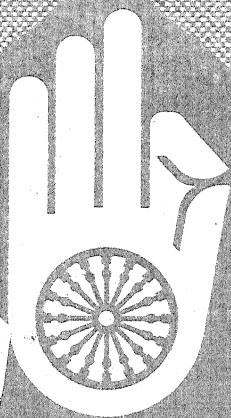
सत्यनारायण गोयनका

लेखक-परिचय

"कल्याण मित्र" ऊ सत्य नारायण गोयन्का

जन्म : माण्डले, बरमा -- सन् 1924.

बरमा के प्रसिद्ध उद्योगपति, व्यवसायी और समाजसेवी.

बरमाके महालेखपाल ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन् 1955 में विपश्यनाकी साधना सीखी। तब से अभ्यासका क्रम जारी रहा। सन् 1969 में भारत आए। व्यापार-धंधेसे अवकाश प्राप्त कर भारतके विभिन्न स्थानों पर "विपश्यना" साधना-विधि के शिविर लगा रहे हैं।

अब भारत एवं विदेशोंमें पांच स्थाई ध्यान-केन्द्रोंकी स्थापना हो चुकी है। यहाँ साधकोंके समुचित निवास एवं भोजनादि की स्थायी व्यवस्था है। श्रीगोयन्काजी एवं उनके सहायक आचार्यों द्वारा अधिकांश शिविर इन साधना-केन्द्रोंमें ही संचालित किए जाते हैं। इसी प्रकार देश-विदेशमें और भी कई स्थानों पर "विपश्यना-केन्द्र" स्थापित हो रहे हैं।

विपश्यी-साधकों के प्रेरणार्थ

धर्म
जीवन जीने की कला

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोयनका

प्रकाशक
सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट
बम्बई–२३

□ **प्रकाशक**

सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट
सिलवेस्टर बिल्डिग
२०, शहीद भगतसिंह मार्ग
बम्बई ४०००२३

मुद्रक :
ऑल इंडिया प्रेस,
पांडिचेरी – ६०५००२.

□ **प्रथम आवृत्ति**
वि० सं० २०३३ कार्तिक
ई० स० १९७६ अक्टूबर
द्वितीय आवृत्ति, बनारस
तृतीय आवृत्ति
ई० स० १९८२, जनवरी
चतुर्थ आवृत्ति
ई० स० १९८३,सितम्बर

प्रकाशकीय

'कल्याण मित्र' पूज्य सत्य नारायणजी गोयन्का के प्रवचनों व लेखों की मांग साधक तथा साधनाप्रिय लोगों द्वारा बार-बार होती रही। उसका प्रकाशन करने में सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट को खुशी हो रही है।

इस तरह की पुस्तक की आवश्यकता पूज्य गोयन्काजी ने भी महसूस की किन्तु ध्यान शिविरों की व्यस्तता के कारण लेखों का चयन तथा संशोधन करना सम्भव नहीं हो सका था। वैसे ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'विपश्यना' में पूज्य गोयन्काजी के उद्बोधन व लेख प्रसिद्ध होते रहे हैं और उनका साधकों को लाभ भी मिलता रहा, पर साधना की पार्श्वभूमि ठीक से समझ में आवे ऐसा संग्रह पुस्तक रूप में निकलने के लिए उसे देखकर सिलसिलेवार तैयार करने के लिए समय नहीं निकल पाया था। किन्तु पूज्य गुरुजी की बीमारी के बाद विश्राम के समय उन्होंने 'धर्म : जीवन जीने की कला' अपने पुराने लेखों तथा नये लेख लिखकर यह पुस्तक तैयार करने की कृपा की। उसके लिए ट्रस्ट उनका अत्यन्त कृतज्ञ है। चूंकि गोयन्काजी की यह रचना उनके सुदीर्घ जीवन के अनुभवों पर आधारित है इसलिए साधकों को तो प्रेरणा मिलेगी ही, पर अन्य पाठक भी उनके अनुभवों से लाभान्वित होंगे।

साधकों तथा पाठकों की ओर से पूज्य गोयन्काजी के दोहों की भी मांग आती रही है। उसकी कुछ अंशों में पूर्ति इस पुस्तक में कुछ दोहे देकर की जा रही है, जोकि उस विषय को समझने में पाठकों की मदद करेंगे। इन दोहों ने पुस्तक को अधिक रोचक व उपयोगी बनाने में सहयोग दिया है।

यह ट्रस्ट परम श्रद्धेय स्वर्गीय सयाजी ऊ बा खिन की पावन स्मृति में स्थापित हुआ है। इसका उद्देश्य बिना किसी जातीय अथवा वर्गीय भेदभाव के लोगों को भगवान बुद्ध की बताई हुई और ब्रह्मदेश में गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अपने शुद्ध रूप में सुरक्षित रखी हुई इस पावन विपश्यना साधना का

अभ्यास करवाने में सहयोग देना है। सयाजी ऊ बा खिन इस कल्याणकारी पद्धति की आचार्य परम्परा के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। वे ब्रह्मदेश के ही नहीं, प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के जाने-माने विपश्यना-आचार्य थे। उनका अपना सात्विक और कर्मठ जीवन 'जीवन जीने की कला' का एक आदर्श उदाहरण था। श्रद्धेय ऊ बा खिन में कतई साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं थी। वे धर्म को सार्वजनीन मानते थे। यही बात हम पूज्य गोयन्काजी के विचारों में सर्वत्र पाते हैं।

पूज्य श्री गोयन्काजी स्वर्गीय ऊ बा खिन के प्रमुख शिष्यों में से एक हैं। श्री ऊ बा खिन ने श्री गोयन्काजी को यथा आवश्यक प्रशिक्षण देकर अधिकृत रूप से विपश्यना-आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया था। कल्याणकारी विपश्यना साधना जन-जन के हित-सुख के लिए विश्वभर में फैले, यही उनकी हार्दिक इच्छा थी, जिसकी पूर्ति के लिए श्री गोयन्काजी अनथक परिश्रम कर रहे हैं और ट्रस्ट उनके इस पावन उद्देश्य में उनको सहयोग देने के लिए स्थापित हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति में आवश्यक कदम है। इसके प्रकाशन में, सम्पादन में श्री रिषभदासजी रांका का, छपाई में श्रीचन्द सुराणा का, पुस्तक के टंकण में श्री रामप्रताप यादव का जो सहयोग प्राप्त हुआ उसके लिए हम इन सबके आभारी हैं।

विनीत—
दयानन्द अडूकिया

प्रस्तावना

विज्ञान द्वारा भौतिक सुख-सुविधा अत्यधिक बढ़ा देने पर भी मनुष्य पहले से अधिक सुखी बना हो ऐसा नहीं दिखायी देता, बल्कि जहाँ सुख के साधन बहुत अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं वहाँ अशांति बहुत अधिक मात्रा में दिखाई देती है। अमेरिका आदि देशों में सुख के साधनों की विपुलता के साथ-साथ जीवन में अशांति और मानसिक तनाव अधिक है। इसलिए शांति की भूख बढ़ी है और लोगों का 'ध्यान' की ओर आकर्षण बढ़ा है। परिणामस्वरूप ध्यान के विविध प्रयोग देश और विदेशों में हो रहे हैं। ध्यान द्वारा शांति प्राप्ति के प्रयत्न हो रहे हैं।

भारत की ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति में ध्यान पर बहुत प्रयोग हुए। और ध्यान की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है, पर कहीं उसमें विकृति आई, तो कहीं वह उस रूप में न रहकर लुप्त हो गई। विपश्यना ध्यान पद्धति के विषय में ऐसा ही कुछ हुआ। यह मूल में भगवान बुद्ध द्वारा प्रचलित पद्धति थी, जिसे उन्होंने जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर करुणा भाव से प्रचारित की थी। जिसका लाखों लोगों ने लाभ उठाकर अपूर्व शान्ति पाई थी। पर भारत में वह शुद्ध रूप में नहीं रह पाई। लेकिन वह पद्धति बर्मा में बौद्ध धर्म के साथ गई और विशुद्ध रूप में अब तक चल रही है।

उस पद्धति को श्रीमान् सत्यनारायणजी गोयन्का ने साधना द्वारा अपना-कर उसे जन-कल्याण की भावना से अविश्रान्त परिश्रम लेकर प्रसार कर रहे हैं। उन्होंने अब तक भारत के सभी राज्यों में अनेकों शिविर लिए। वे इतने लोकप्रिय तथा उपयोगी बने कि लोगों में विपश्यना ध्यान पद्धति के लिए चारों

ओर जिज्ञासा निर्माण हुई और लोग उसका स्वरूप जानने को उत्सुक पाये गये। लोगों का बड़ा आग्रह रहा कि गोयन्काजी इस विषय का साहित्य निर्माण कर जनता को विपश्यना ध्यान पद्धति की जानकारी करावें। किन्तु गोयन्काजी को यह भय रहा कि लोग इसे बुद्धि से समझ भी जायँ तो भी ध्यान शिविर में बैठकर ठीक अभ्यास को बिना समझे गल्ती कर सकते हैं। और जैसा भारत में ही नहीं सारे संसार में होता है उस तरह पूरा समझे बिना, योग्य मार्गदर्शक की पात्रता के बिना उपदेश देकर लाभ के बदले कुछ लोग हानि ही अधिक करते हैं। थोड़ा बहुत कुछ जाना न जाना दूसरों को सिखाने की कई लोग कोशिश करते हैं। जिससे कई बार साधकों को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। इस साधना की विशेषता यह रही है कि वह जैसे प्राचीनकाल से चली आई है, उसमें कहीं भी कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। जैसी थी वैसी ही चली आ रही है। उसमें कहीं भी कोई अपनी ओर से परिवर्तन न करे और जो साधक दूसरों को सिखाये, वह अनुभव प्राप्त किया हुआ योग्य अधिकारी हो। साहित्य पढ़कर इस विधि को विधिपूर्वक न अपनाकर कहीं उसका दुरुपयोग न हो। श्री गोयन्काजी का यह भय उचित ही था और है, किन्तु विपश्यना ध्यान की पार्श्वभूमि समझाने के लिए कुछ साहित्य का निर्माण होना आवश्यक था। इस-लिए साधकों की यह इच्छा थी कि गोयन्काजी इस विषय पर लिखें। आग्रह करने वालों में मैं भी एक था और मैंने यह भी कहा है कि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि जिन्हें इस विषय में रुचि है वे इस पद्धति को साधना शिविर में ही सीखने की कोशिश करें। क्योंकि शिविर में वातावरण की अनुकूलता के साथ योग्य अधि-कारी साधक द्वारा गुरु रूप में दिया हुआ मार्गदर्शन उपयोगी तो होता ही है, पर मार्ग में जो कठिनाइयां और बाधाएं आती हैं उस दिशा में योग्य मार्गदर्शन होने से साधना में समुचित प्रगति होकर उस मार्ग में आगे बढ़ने में बड़ी सहायता होती है।

श्री गोयन्काजी से गुरु रूप में मिला हुआ मार्गदर्शन योग्य दिशा में प्रगति में सहायक होता है। उसमें भटकने की सम्भावना नहीं रहती और उससे अल्प समय में योग्य प्रगति हो सकती है।

श्री सत्यनारायणजी सही रूप में कल्याणमित्र हैं और उन्होंने जो जन-कल्याण की दृष्टि से विपश्यना साधना के प्रसार में परिश्रम किया वह सचमुच

प्रशंसनीय है। उनके अति परिश्रम का ही यह परिणाम था कि वे बीमार हुए, उन्हें शल्य चिकित्सा करानी पड़ी और कुछ विश्राम लेना आवश्यक हो गया। इस बीमारी के बाद विश्राम के समय उन्होंने इन लेखों को जो विपश्यना पत्रिका में आये थे और कुछ नये लिखकर दिए, उनका संग्रह प्रकाशित हो रहा है। इन लेखों के विषय में हम अधिक न कह कर इतना ही कहना उचित समझते हैं कि यह लेख कल्पना से लिखे हुए नहीं हैं किन्तु अपने गुरुजी सयाजी ऊ बा खिन से पाये अपने अनुभव का सार है, जो उन्होंने विपश्यना की साधना करके प्राप्त किया है। पाठकों को इस बात की प्रतीति लेखों को पढ़ने से हो जावेगी। इसका नाम भी यथार्थ है। 'धर्म जीवन जीने की कला है।' वह चर्चा का विषय या बुद्धि विलास या मनोरंजन की वस्तु नहीं है। किन्तु जीवन मे अपनाने योग्य है। जिससे जीवन सुखी और सफल हो सकता है।

हम कल्याण मित्र गोयनकाजी के अत्यन्त अनुग्रहित हैं, जिन्होंने यह पुस्तक तैयार कर प्रकाशित करने की अनुमति दी।

आशा है श्री गोयन्काजी की इस कृति का साधनोत्सुक पाठक उचित उपयोग करेंगे।

—**रिषभदास रांका**

अनुक्रमणिका

१. धर्म क्या है ?

□ □

धर्म जीवन जीने की कला है। स्वयं सुख से जीने की तथा औरों को सुख से जीने देने की। सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, दुखों से मुक्त रहना चाहते हैं। परन्तु जब हम यह नहीं जानते कि वास्तविक सुख क्या है और यह भी नहीं जानते कि उसे कैसे प्राप्त किया जाय ? तो झूठे सुख के पीछे बावले होकर दौड़ लगाते हैं। वास्तविक सुख से दूर रहकर अधिकाधिक दुखी होते हैं। स्वयं को ही नहीं औरों को भी दुखी बनाते हैं।

वास्तविक सुख आन्तरिक शांति में है और आन्तरिक शांति चित्त की विकार-विहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है। चित्त की विकार-विहीन अवस्था ही वास्तविक सुख-शांति की अवस्था है।

अतः सच्ची शांति और सच्चा सुख वही भोगता है जो निर्मल चित्त का जीवन जीता है। जो जितना विकारमुक्त रहता है उतना ही दुख-मुक्त रहता है, उतना ही जीवन जीने की सही कला जानता है, उतना ही सही माने में धार्मिक होता है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है। यही जीने की कला है। इसमें जो जितना निपुण है वह उतना ही अधिक धार्मिक है। धार्मिक की यही सही परिभाषा है।

प्रकृति का एक अटूट नियम है जिसे कोई ऋत कह ले अथवा धर्म-नियामता कह ले, नाम के भेद से कोई अन्तर नहीं पड़ता। नियम यह है कि ऐसा किया जायगा तो उसका ऐसा परिणाम आयेगा ही। वैसा नहीं किया जायगा तो वैसा परिणाम नहीं आ सकता। कारणों के परिणामस्वरूप जो कार्य सम्पन्न होता है, उन कारणों के नहीं रहने से वह कार्य नहीं हो सकता।

इस नियम के अनुसार जब-जब हमारा मन द्वेष, दौर्मनस्य, क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि से आक्रांत हो उठता है, तब-तब हम व्याकुल हो जाते हैं। दुख-संतापित होकर सुख से वंचित हो जाते हैं। जब-जब हमारा मन ऐसे विकारों से विकृत नहीं रहता, तब-तब हम व्याकुलता से मुक्त रहते हैं। दुख-संतापित होने से बचे रहते हैं। अपनी आन्तरिक सुख-शांति के मालिक बने रहते हैं।

जो विकारों से मुक्त रहना सिखाती है वही जीवन जीने की सही कला है। वही शुद्ध धर्म है। शुद्ध धर्म का स्वरूप बड़ा ही मंगलमय और कल्याणप्रद है। हम जब-जब विकार-विमुक्त होकर निर्मल चित्त से आचरण करते हैं, तब-तब स्वयं तो वास्तविक सुख-शांति भोगते ही हैं औरों की सुख-शांति का भी कारण बनते हैं। इसीप्रकार जब-जब विकारग्रस्त होकर मलिन चित्तजन्य आचरण करते हैं, तब-तब स्वयं तो संतापित होते ही हैं औरों के संताप का भी कारण बनते हैं। समाज की शांति भंग करते हैं।

क्रोध, लोभ, वासना, भय, मात्सर्य, ईर्ष्या, अहंकार आदि मनोविकारों के शिकार बन हम हत्या, चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल-कपट, चुगली, परनिन्दा, निरर्थक बकवास करते हैं, कड़ुवा-कठोर बोलते हैं ; और जब-जब ऐसा करते हैं तब-तब आत्म तथा पर-संताप का कारण बनते हैं। मनोविकारों के बिना कोई भी शारीरिक या वाचिक दुष्कर्म सम्पन्न हो नहीं सकता। परन्तु यह अनिवार्य नहीं हैं कि मनोविकारों के उत्पन्न होने पर हम कायिक और वाचिक दुष्कर्म करें ही। बहुधा प्रबल मनोविकारों के उत्पन्न होने के बावजूद भी आत्म-दमन द्वारा हम ऐसे कायिक, वाचिक दुष्कर्मों से बच जाते हैं। इससे प्रत्यक्षतः औरों की हानि नहीं कर पाते। परन्तु फिर भी दूषित मनोविकारों से आक्रांत होकर यदि मन ही मन व्याकुल रहते हैं तो मानसिक दुष्कर्म तो करते ही हैं। इससे अपनी शांति खोते हैं; परोक्षतः औरों की शांति भी भंग करते हैं। हमारे मन की दूषित तरंगें आस-पास के वातावरण को प्रभावित और दूषित किए बिना नहीं रह सकतीं।

जब-जब हमारा मन विकार-विमुक्त और निर्मल होता है, तब-तब स्वाभाविक ही वह स्नेह और सद्भाव से, मैत्री और करुणा से भर उठता है। उस समय हम स्वयं तो सुख-शान्ति का अनुभव करते ही हैं, परोक्षतः

औरों की भी सुख-शान्ति का कारण बनते हैं। हमारे निर्मल चित्त की तरंगें आस-पास के वातावरण को प्रभावित कर उसे यथाशक्ति निर्मल बनाती हैं।

अतः आत्म-दमन ही धर्म की सर्वांग सम्पूर्णता नहीं है। लेकिन धर्म धारण करने का पहला कदम यहीं से आरम्भ होता है। पहले तो संयम-संवर द्वारा ही हम कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से विरत होवें और फिर सतत् अभ्यास द्वारा मानसिक दुष्कर्म से भी छुट्टी पा लें। मानसिक दुष्कर्मों से छुट्टी पाने का अर्थ है मानसिक विकारों से मुक्त हो जाना। विकार-विहीन निर्मल चित्त अपने सहज स्वभाव से ही कोई मानसिक, वाचिक या शारीरिक दुष्कर्म नहीं कर सकेगा। अतः मुख्य बात है अपने चित्त को विकारों से विमुक्त रखना।

हम अपने प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक रहकर ही उसे दोषमुक्त रख सकते हैं। अपने चित्त और चित्त के विकारों के प्रति जागरूक रहकर ही उसे विकारमुक्त रख सकते हैं। उसके प्रति अनजान और मूर्छित रहते हुए हम उसे कदापि स्वच्छ नहीं कर सकते, उसकी स्वच्छता को कायम नहीं रख सकते। अतः अपने शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का, अपने चित्त और चित्तवृत्तियों का सतत् निरीक्षण करते रहने का अभ्यास ही धर्म धारण करने का सही अभ्यास है। किसी भी कर्म के करने से पूर्व और करते समय हम यह जांच करें कि इस कर्म में हमारा तथा अन्यों का मंगल समाया हुआ है अथवा अमंगल। यदि मंगल है तो वह काम करें और यदि अमंगल हो तो न करें। इस प्रकार भलीभांति विवेकपूर्वक जाच कर किया गया कर्म सर्व मगलमय ही होगा। अतः धर्ममय ही होगा। यदि कभी अनवधानतावश बिना जांच किए कोई कायिक या वाचिक दुष्कर्म हो गया, जो कि अपने तथा अन्यों के लिए अहितकर हुआ तो उसे लेकर प्रायश्चित् करते हुए रो-रोकर किसी अपराध ग्रंथि से ग्रस्त न हो जाएं, बल्कि शीघ्र से शीघ्र अपने किसी साथी साधक अथवा गुरुजन से मिलकर, उनके सम्मुख अपनी भूल प्रकटकर, उसे स्वीकार कर लें और उस भार से मुक्ति पाएं तथा भविष्य में और अधिक सावधान रहने के लिए कृत-संकल्प बनें। चित्त के प्रति भी इसी प्रकार जागरूकता का अभ्यास बढ़ाएं। जब-जब चित्त पर कोई विकार जागे, तत्क्षण उसका निरीक्षण करें। साक्षी की तरह निरीक्षण करने मात्र से वह

दुर्बल होते-होते विनष्ट हो जायगा। कभी अनवधानतावश उसका निरीक्षण न कर पाएं और परिणामतः वह हम पर हावी हो जाय तो उसे भी याद कर करके रोएं नहीं। बल्कि और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प हों और जागरूकता का अभ्यास बढ़ाएं। शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठापित होने का यही वैज्ञानिक तरीका है।

जिस अभ्यास से अपने कर्मों के प्रति जागरूकता और सावधानी बढ़ती हो वही शुद्ध धर्म का अभ्यास है। जिस विधि से अपने कर्मों को सुधारने वाली चित्त-निर्मलता प्राप्त होती हो, वही धर्मविधि है।

जब हम आत्म-निरीक्षण कर अनुभूतियों के बल पर देखते हैं तो पाते हैं कि प्रत्येक दुष्कर्म का कारण अपने चित्त की मलीनता है। कोई न कोई मनोविकार है। हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक विकार का कारण अपने ही अहम् के प्रति उत्पन्न हुई गहन आसक्ति है। जब-जब आसक्ति के अंधेपन में इस 'मैं' को अत्यधिक महत्व देकर इससे चिपक जाते हैं, तब-तब संकुचित दायरे में आबद्ध होकर मन मलीन कर कोई न कोई ऐसा कर्म कर लेते हैं जो कि परिणामतः अकुशल होता है।

आत्मनिरीक्षण के अभ्यास द्वारा स्वानुभूतियों के बल पर ही यह स्पष्ट होता है कि जब-जब स्वार्थान्ध होकर हम विकारग्रस्त होते हैं, तब-तव औरों का अहित तो करते ही हैं, अपना सच्चा स्वार्थ भी नहीं साध पाते। और जब-जब इस अंधेपन से मुक्त रहते हैं, तब-तब आत्महित और परहित दोनों साधते हैं। आत्महित और परहित साधने का कर्म ही धर्म है। जहाँ आत्मलाभ के साथ-साथ पर-लाभ भी सधता हो, वहीं धर्म है। जहाँ किसी का भी अनहित होता हो, वहाँ अधर्म ही अधर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय का सामंजस्यपूर्ण स्वस्थ जीवन ही धर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय अन्योन्याश्रित हैं।

हमारे सत्कर्म और दुष्कर्म केवल हमें ही सुखी-दुखी नहीं बनाते। बल्कि हमारे अन्य संगी-साथियों को भी प्रभावित करते हैं। मनुष्य समाज के अन्य सदस्यों के साथ रहता है। वह समाज का अविभाज्य अंग है। समाज द्वारा स्वयं प्रभावित होता है और समाज को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करता रहता है। इसलिये धर्म साधन द्वारा जब हम नैतिक जीवन जीते हैं, दुष्कर्मों से

बचकर सत्कर्मों में लगते हैं तो केवल अपना ही भला नहीं करते, बल्कि औरों का भी भला साधते हैं ।

जीवनमूल्यों के लिए ही तो धर्मसाधना है । यदि धर्म के अभ्यास से जीवनमूल्य ऊँचे नहीं उठते, हमारा लोक-व्यवहार नहीं सुधरता, हम अपने लिए तथा औरों के लिए मंगलमय जीवन नहीं जी सकते तो ऐसा धर्म हमारे किस काम का ? किसी के भी किस काम का ? धर्म इसलिए है कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध सुधरें । हममें व्यवहार कौशल्य आए । परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय सारे पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों पर ही निर्भर होते हैं । अतः शुद्ध धर्म यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यहीं, इसी जीवन में औरों के साथ अपना व्यवहार सम्बन्ध सुधारे । इसी जीवन में सुख-शान्ति से जीने के लिए धर्म है । मृत्यु के बाद बादलों के ऊपर किसी अज्ञात स्वर्ग का जीवन जीने के लिए नहीं । मृत्यु के बाद पृथ्वी के नीचे किसी अनजान नरक से बचने के लिए नहीं । बल्कि हमारे ही भीतर समाए हुए स्वर्ग का सुख भोगने के लिए, हमारे अपने ही भीतर समय-समय पर यह जो नारकीय अग्नि जल उठती है, उसे शान्त करने के लिए ; उससे बचने के लिए । धर्म सांदृष्टिक है, प्रत्यक्ष है । इसी जीवन, इसी लोक के लिए है । वर्तमान के लिए है । जिसने अपना वर्तमान सुधार लिया, उसे भविष्य की चिन्ता करने की जरूरत नहीं । उसका भविष्य स्वतः सुधर जाता है । जिसने लोक सुधार लिया, उसे परलोक की चिन्ता नहीं । उसका परलोक स्वतः सुधर जाता है । जो अपना वर्तमान नहीं सुधार सका, अपना इहलोक नहीं सुधार सका और केवल भविष्य की ओर आशा लगाए, परलोक की ओर टकटकी लगाए बैठा है, वह अपने आपको धोखा देता है । अपने वास्तविक मंगल से वंचित रहता है । शुद्ध धर्म से दूर रहता है । धर्म अकालिक होता है । यानी अभी इसी जीवन में फल देने वाला होता है । धर्म के नाम पर कोई अनुष्ठान करें और उसका लाभ यहाँ न मिले, विकार-विहीन चित्त की निर्मलता का वास्तविक सुख यहीं इसी जीवन में न मिले, तो समझना चाहिए किसी धोखे में उलझ रहे हैं । शुद्ध धर्म से वंचित हो रहे हैं । धर्म सब के लिए इसी जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने हेतु है । आंखों के परे किसी सुदूर भविष्य की निरर्थक चिन्ता से मुक्त होने के लिए है । यही

धर्म है। यही धर्म की शुद्धता है। यही शुद्ध धर्म का जीवन है, जिसकी आवश्यकता सार्वजनीन है।

धर्म सार्वजनीन है, इसलिए शुद्ध धर्म का सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं, कोई लेन-देन नहीं। शुद्ध धर्म के पथ का पथिक जब धर्म पालन करता है तब किसी सम्प्रदाय-विशेष के थोथे निष्प्राण रीति-रिवाज पूरे करने के लिए नहीं, किसी ग्रन्थ-विशेष के विधि-विधान का अनुष्ठान पूरा करने के लिए नहीं, मिथ्या अंधविश्वास—जन्य रूढ़ि परम्परा का शिकार होकर किसी लकीर का फकीर बनने के लिए नहीं, बल्कि शुद्ध धर्म का अभ्यासी अपने जीवन को सुखी और स्वस्थ बनाने के लिए ही धर्म का पालन करता है। धार्मिक जीवन जीने के लिए धर्म को भलीभांति समझकर, उसे आत्म-कल्याण और परकल्याण का कारण मानकर ही उसका पालन करता है। बिना समझे हुए केवल अंध-विश्वास के कारण अथवा किसी अज्ञात शक्ति को संतुष्ट प्रसन्न करने के लिए अथवा उसके भय से आशंकित-आतंकित होकर धर्म का पालन नहीं करता। धर्म का पालन दूषणों का दमन करने के लिए ही नहीं, बल्कि प्रज्ञापूर्वक उनका पूर्ण शमन और रेचन करने के लिए करता है। धर्म का पालन केवल अपने लिए ही नहीं, बल्कि बहुजन के हित-सुख, मंगल-कल्याण और बहुजन की स्वस्ति-मुक्ति के लिए करता है।

धर्म का पालन यही समझकर करना चाहिए कि वह सार्वजनीन है, सर्वजनहितकारी है; किसी सम्प्रदाय विशेष, वर्ग विशेष या जाति विशेष से बंधा हुआ नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है। धर्म तभी तक शुद्ध है, जब तक सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। सबके लिए एक जैसा कल्याणकारी, मंगलकारी, हित-सुखकारी है। सबके लिए सरलतापूर्वक बिना हिचक के ग्रहण कर सकने योग्य है।

शुद्ध वायुमण्डल में रहना, शुद्ध-स्वच्छ हवा का सेवन करना, शरीर स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना, शुद्ध स्वच्छ सात्विक भोजन, मुझे इसलिए करना चाहिए कि यह मेरे लिए हितकर है। परन्तु यह केवल मेरे लिए ही नहीं, किसी एक जातिविशेष, वर्गविशेष या सम्प्रदायविशेष के लिए ही नहीं, बल्कि सबके लिए समान रूप से हितकर है। केवल मैं ही नहीं, कोई भी व्यक्ति यदि अशुद्ध, अस्वस्थ वातावरण में रहता है, गन्दी विषैली

वायु का सेवन करता है, अपने शरीर और वस्त्रों को गन्दा रखता है, अस्वच्छ-दूषित भोजन करता है तो अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है, रोगी और दुःखी होता है। यह नियम सार्वजनीन है। किसी एक व्यक्ति-विशेष, किसी एक जाति-विशेष पर ही लागू नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब कोई अपने मन को विकारों से विकृत करता है तो व्याकुल होता है। उसके वात-पित्त-कफ में विषमता पैदा होती है। वह रोग-ग्रस्त होता है। स्वास्थ्य-विज्ञान के सामान्य नियम सभी के तन और मन पर समान रूप से लागू होते हैं। प्रकृति यह नहीं देखती कि इन नियमों का उल्लंघन करने वाला कौन है, किस जाति और किस सम्प्रदाय का है। प्रकृति किसी सम्प्रदाय-विशेष के व्यक्ति पर कृपा नहीं करती, न किसी अन्य पर कोप करती है। मलेरिया मलेरिया है। न हिन्दू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। वैसे ही कुनैन कुनैन है। वह न हिन्दू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। इसी प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार न हिन्दू हैं न बौद्ध, न जैन हैं न पारसी, न मुस्लिम हैं न ईसाई। वैसे ही इनसे विमुक्त रहना भी न हिन्दू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। अतः शुद्ध धर्म न हिन्दू है, न बौद्ध है, न जैन है, न पारसी है, न मुस्लिम है, न ईसाई है। वह शुद्ध धर्म ही है।

धर्म एक आदर्श जीवन-शैली है, सुख से रहने की पावन पद्धति है, शान्ति प्राप्त करने की विमल विधा है, सर्व जन-कल्याणी आचारसंहिता है, जो सबके लिए है।

क्या शीलवान, समाधिवान, प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है ? औरों का नहीं ? क्या वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होना केवल जैनियों का ही धर्म है ? औरों का नहीं ? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवनमुक्त होना केवल हिन्दुओं का ही धर्म है ? औरों का नहीं ? क्या प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत होकर जन-सेवा करना केवल ईसाइयों का ही धर्म है ? औरों का नहीं ? क्या जात-पांत के भेदभाव से मुक्त रहकर सामाजिक समता का जीवन जीना केवल मुसलमानों का ही धर्म है ? औरों का नहीं ? धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है हम आदमी बनें। अच्छे आदमी बनें। अच्छे आदमी बन जायेंगे तो अच्छे हिन्दू,

अच्छे बौद्ध, अच्छे जैन, अच्छे मुसलमान, अच्छे ईसाई आदि बन ही जायेंगे। यदि अच्छे आदमी ही नहीं बन सके तो बौद्ध बने रहने से भी क्या हुआ ? हिन्दू, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि बने रहने से भी क्या हुआ ?

धर्म की इस शुद्धता को समझें और धारण करें। हम सब के जीवन में शुद्ध धर्म जागे। निस्सार छिलकों का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हों ; शुद्ध सार का सही मूल्यांकन हो, प्रतिष्ठापन हो। शुद्ध धर्म जीवन का अंग बन जाय। इसी में हमारा सच्चा कल्याण, सच्चा मंगल समाया हुआ है

धर्म न हिन्दू बौद्ध है, धर्म न मुस्लिम जैन।
धर्म चित्त की शुद्धता, धर्म शांति सुख चैन॥

धर्म धर्म तो सब कहें, पर समझे ना कोय।
शुद्ध चित्त का आचरण, सत्य धर्म है सोय॥

कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
विकृत मन व्याकुल रहे, निर्मल सुखिया होय॥

द्वेष और दुर्भाव के, जब जब उठें विकार।
मैं भी दुखिया हो उठूं, दुखी करूं संसार॥

मैं भी व्याकुल ना रहूँ, जगत न व्याकुल होय।
जीवन जीने की कला, सत्य धर्म है सोय॥

यही धर्म की परख है, यही धर्म का माप।
जन जन का मंगल करे, दूर करे संताप॥

२. शुद्ध धर्म

लम्बी परम्परा के कारण धर्म के नाम पर जो थोथे छिलके बच गये हैं, उनसे छुटकारा लें और शुद्ध धर्म के सार को ग्रहण करें। धर्म का सार ही मंगलदायक है, सार्थक है। केवल छिलके निरर्थक हैं, हानिप्रद हैं। सार प्राप्त होने पर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।

शुद्ध धर्म का सार शील है, सदाचार है। वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से बचना है। शरीर और वाणी के दुष्कर्मों में लगे रहें तो मन की गन्दगी यानी विकार बढ़ेंगे ही। क्योंकि शरीर और वाणी का हर दुष्कर्म गन्दे मन से ही सम्पन्न होता है। बिना चित्त को दूषित किए हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य अथवा गन्दा भाषण, अथवा नशे का सेवन नहीं हो सकता। शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से मन का मैल बढ़ता है, घटता नहीं। मन का हर मैल हमें दुखी बनाता है, सुखी नहीं।

शुद्ध धर्म का सार समाधि है। किसी कल्पनाविहीन यथार्थ आलम्बन के सहारे चित्त को एकाग्र कर लेना समाधि है। जैसे एकाग्रता-विहीन चित्त मैला रहता है, वैसे ही कल्पना या कामना के आधार पर एकाग्र हुआ चित्त भी। मैला चित्त हमें दुखी बनाता है, सुखी नहीं।

शुद्ध धर्म का सार प्रज्ञा है। जीवन व्यवहार में आने वाले सभी वाह्य आलम्बनों को और अपनी भीतरी मनोस्थितियों को यथाभूत, यथास्वभाव जानते रहना, उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने के बजाय, उनसे अनासक्त रहना ही प्रज्ञा है। राग, द्वेष, मोह और तज्जन्य आसक्तियां मन की मैल

हैं। प्रज्ञा इन आसक्तियों का मैल दूर करती हैं। मैल रहे तो हम दुखी रहते हैं, सुखी नहीं।

शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास का प्रत्येक कदम शुद्ध धर्म के अभ्यास का, धर्म के सार को ग्रहण करने का, सच्चे सुख को प्राप्त करने का कदम है। जिससे न हमारा शील प्रतिष्ठित होता है, न शुद्ध समाधि पुष्ट होती है और न प्रज्ञा स्थिर होती है, वह कर्म थोथी परम्परा के कारण चाहे जितना धार्मिक कृत्य कहा जाय, पर वस्तुतः सत्य धर्म से, सार तत्व से दूर ले जाने वाला कदम ही है। ऐसे सभी निरर्थक बाह्याचार, थोथे कर्मकाण्ड, निर्जीव लकीरें, दम्भपूर्ण दिखावे, आडम्बरपूर्ण वेषभूषाएँ, उच्च जाति में जन्म लेने अथवा धनवान होने का मिथ्या अहंभाव आदि सब निस्सार ही निस्सार हैं। दुख ही दुख हैं। अपने लिए भी, औरों के लिए भी।

इसलिए, धर्म के सार को ही ग्रहण करें, निस्सार को त्यागें। अपने तथा औरों के सुख के लिए! कल्याण के लिए!!

☆

शील धर्म पालन भला, सम्यक् भली समाधि।
प्रज्ञा तो जाग्रत भली, दूर करे भव व्याधि॥

शील धर्म की नींव है, है समाधि ही भीत।
प्रज्ञा छत है धर्म की, मंगल भुवन पुनीत॥

प्रज्ञा शील समाधि ही, शुद्ध धर्म का सार।
काया वाणी चित्त के, सुधरे सब व्यवहार॥

शुद्ध धर्म का शांतिपथ, संप्रदाय से दूर।
शुद्ध धर्म की साधना, मंगल से भरपूर॥

जो चाहे सुखिया रहे, रहें सभी खुशहाल।
मन से, तन से, वचन से, शुद्ध धर्म ही पाल॥

यह ही ऋत है, नियम है, इससे बचा न कोय।
धर्म धार सुख ही मिले, त्यागे दुखिया होय॥

३. धर्म का सार

□ □

ठीक से समझे हुए धर्म को ही ठीक से पालन किया जा सकता है। धर्म के सार को समझें। सार को समझेंगे तभी उसे ग्रहण कर पायेंगे अन्यथा भीतर का सार तत्त्व छोड़कर छिलकों में ही उलझे रह जायेंगे। उन्हें ही सार समझकर धर्म मानने लगेंगे।

सार में सदा समानता रहती है। भिन्न-भिन्न छिलके हुआ करते हैं और जहाँ इन छिलकों को धर्म मान लिया जाता है वहाँ धर्म भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यह हिन्दुओं का धर्म, हिन्दुओं में भी सनातनी, आर्यसमाजी। यह बौद्धों का धर्म, बौद्धों में भी महायानी, हीनयानी। यह जैनियों का धर्म, जैनियों में भी दिगम्बरी, श्वेताम्बरी। यह ईसाइयों का धर्म-ईसाइयों में भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट। यह मुसलमानों का धर्म, मुसलमानों में भी शिया, सुन्नी आदि-आदि धर्म; भिन्न-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी। निस्सार छिलकों को महत्त्व दिये जाने के कारण यह विभिन्नताएँ हैं और इन्हें लेकर ही पारस्परिक विरोध उत्पन्न होते हैं।

कोई चोटी रखे हुए है, कोई दाढ़ी। चोटी मोटी है या पतली? दाढ़ी मुँड़ी मूँछवाली या भरी मूँछवाली? कोई सिर के बाल बढ़ाए हुए है—बाल खूब सजे सँवरे हैं या रूखे-सूखे जटा-जटिल? कोई सिर मुँडाए हुए है तो वह भी उस्तरे से या चिमटी से? किसी ने कान छिदवा रखे हैं तो उनमें बालियाँ पहनी हैं या कुण्डल या मुद्राएँ? कोई तिलक लगाए हुए है तो तिलक-चन्दन का है या रोली का या भस्म का? इस आकार का है या उस आकार का? कोई माला पहने है तो वह रुद्राक्ष की है या चन्दन की या तुलसी की? बीच

में लटकन वाली है या बिना लटकन वाली ? यदि लटकन वाली है तो उसमें किस देवी, देवता, गुरु, आचार्य का चित्र या चिह्न लटकता है ? कोई निर्वस्त्र है तो कोई वस्त्र पहने है। वस्त्र पहने है तो वह सिला है या अनसिला ? इस रंग का है या उस रंग का ? इस बनाव-कटाव का है या उस बनाव-कटाव का ? धोती है या लुंगी ? पाजामा है या पतलुन ? कमीज है या कुर्ता ? अचकन है या कोट ? दुपल्ली टोपी है या तुर्की टोपी या अंग्रेजी हैट ? कोई गले, भुजा, कलाई, पैर या अंगुलियों में डोरा बाँधे है अथवा जन्तर, ताबीज या गण्डा ? और है तो उसमें कोई अंक है या अक्षर ? या शब्द ? या मन्त्र ? या तन्त्र ? या यन्त्र ? कोई हाथ में पात्र लिए है या करपात्री है ? पात्र है तो मिट्टी का है ? लकड़ी का है ? लोहे का है ? या अन्य किसी धातु का ?

ये अनेक रूप-रूपाय, भिन्न-भिन्न बाह्याडम्बर, वेष-भूषा, आकार-प्रकार, बनावट-सजावट, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रतीक मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत भिन्न-भिन्न धर्म बनकर पारस्परिक विरोध का कारण बन गये हैं। कभी-किसी धर्मनेता ने प्यासी जनता को अमृत जैसा धर्मरस दिया। परन्तु जिस पात्र में दिया वह पात्र ही हमारे लिए प्रमुख हो गया। कालान्तर में जब वह पात्र जीर्ण हुआ तो उसमें छेद होकर सारा धर्मरस बह गया। खोखला पात्र ही हमारे पास रह गया। इस पात्र के रस को हमने जाना या चखा नहीं। इसलिए यह खोखला पात्र हमारे लिए धर्म हो गया और इसे छाती से चिपकाए रखने को हम जीवन की सार्थकता मानने लगे।

जैसे भिन्न-भिन्न रूप-सज्जा वैसे ही भिन्न-भिन्न थोथे, निर्जीव, निष्प्राण कर्मकाण्ड हमारे लिए धर्म बन गये हैं और हमें उनसे गहरा चिपकाव हो गया है। शुद्ध धर्म फिर छूट गया और हम चूल्हे, चौके को, कच्ची या पक्की रसोई को, जात-पात को, छूआ-छूत को, इस या उस नदी, पोखरे अथवा समुद्र में नहाने को, इस या उस तीर्थ की यात्रा कर लेने को ही धर्म मानने लगे हैं। इस या उस मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, चैत्य, उपाश्रय, गुरुद्वारे में सुबह-शाम हाजिरी दे आने को ही धर्म मानने लगे हैं। पूर्व या पश्चिम की ओर मुँह करके, खड़े होकर या बैठकर, घुटने मोड़कर या पाल्थी मारकर, हाथ जोड़कर या अञ्जली पसारकर, पंचांग, अष्टांग या दण्डवत् प्रणाम करके, इस या उस देवी, देवता, गुरु, आचार्य या धर्मनेता की तस्वीर, मूर्ति, चरण-

चिह्न, पादपीठ या धातु-अवशेष अथवा उसके उपदेश-ग्रन्थ के सामने वन्दना करने, सिर झुकाने, दीप जलाने, नैवेद्य चढ़ाने, आरती उतारने, शंख बजाने, घण्टे-घडियाल बजाने, नाचने, गाने, अजान पढ़ने, स्तोत्र पढ़ने, उसके नाम की माला जपने अथवा उसकी वाणी के पाठ करने को ही धर्म मानने लगे हैं। भले यह सब यन्त्रवत् ही क्यों न होता हो। इसी प्रकार भयभीत चित्त द्वारा किसी की मनौती मनाने, प्रसाद चढ़ाने, जात-झडुला, जादू-टोना, अथवा झाड़-फूँक करने को ही धर्म मानने लगे हैं। किसी अज्ञात अदृश्य सत्ता को सन्तुष्ट प्रसन्न करने के लिए मुर्गी, बकरे, गाय, भैंसे या मनुष्य तक की बलि चढ़ाते हैं और इसे भी धर्म ही मानते हैं। कोई बलि चढ़ाते हुए एक झटके में धड़ से सिर अलग करने को और कोई धीरे-धीरे तडपा-तड़पाकर मारने को धर्म मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न कर्मकाण्डों वाला धर्म बाजार में भी बिकने लगा है। हम चाहें तो पैसे के बल पर ऐसे धर्म को खरीद सकते हैं। जो कर्मकाण्ड स्वयं नहीं कर सकते, उसे किराये के लोगों से करवा सकते हैं। यह सत्य धर्म का घोर अवमूल्यन है !

सत्य धर्म की उपलब्धि के लिए हमें जो साधन मिले, हमारी नासमझी के कारण वे ही हमारे लिए बन्धन बन गये। किसी सन्त पुरुष ने हमें अन्धकार में भटकते देख अत्यन्त करुण चित्त से हमारे हाथ में जलती हुई मशाल पकड़ाई ताकि उस प्रकाश के सहारे हम सही रास्ते चलकर अपनी जीवन-यात्रा सकुशल पूरी करें। परन्तु कालान्तर में उस मशाल की ज्योति बुझ गई। हमारे हाथ में केवल डण्डा रह गया और हम मूढ़तावश उस डण्डे को ही मशाल मानकर उससे चिपक गये। शिव छूट गया, शव रह गया। थोथा बाह्याचार ही हमारे लिए धर्म बन गया। ऐसी दयनीय स्थिति में आकंठ डूबा होने के कारण ही कोई प्रवासी भारतीय कहता है, 'मुझे बर्मा आए चालीस वर्ष बीत गए। यहाँ आकर मैंने चोरियाँ कीं, छल-कपट किया, व्यभिचार किया, नशा-पता किया; लेकिन अपना धर्म नहीं छोड़ा।' "कैसे धर्म नहीं छोड़ा ?" पूछने पर बड़े सहज भाव से जवाब देता है, "इन चालीस वर्षों में मैंने कभी किसी बर्मी के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पिया।" कैसी दयनीय दशा बना ली है हमने बेचारे धर्म की !

कभी यह भी होता है कि इन बाह्याचार और बाह्याडम्बर रूपी स्थूल छिलकों को तो हम धर्म नहीं मानते हैं, परन्तु इनकी जगह ऐसे सूक्ष्म-सूक्ष्म छिलकों को

धर्म मानने लगते हैं जो अधिक भ्रामक और अधिक कठिन बाँधने वाले होते हैं। जब हम किसी अन्ध मान्यता, अन्ध भावावेश, अथवा बौद्धिक तर्कजाल को धर्म मानने लगते हैं तो उसमें अधिक बुरी तरह उलझ जाते हैं। हम जिस परिवार में जन्मे हैं, जिस परिवेश में पले हैं, उस वंश-परम्परा की किसी मान्यता के बारे में बार-बार सुनते रहे हैं। अतः उस मान्यता की लकीर बार-बार मन पर पड़ते-पड़ते इतनी गहरी बन गई है कि उसे छोड़कर और कोई मान्यता सही हो सकती है, इसे स्वीकार करने तक को तैयार नहीं होते। हम जिस दार्शनिक परम्परा को मान रहे हैं, उसके साथ हमारा एक भावनात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है। फलस्वरूप उसके विपरीत अन्य किसी दृष्टिकोण को कभी स्वीकार ही नहीं कर सकते। अथवा यह भी होता है कि अपनी तर्कबुद्धि से हमने किसी मान्यता को अपना लिया है तो अपने ही बुद्धिबल को अत्यधिक महत्ता देने के स्वभाववश अन्य किसी मान्यता को सही मानने को प्रस्तुत ही नहीं होते। परम्परागत मान्यता, हृदयगत भावुकता अथवा बौद्धिक तर्कजाल के कारण जब हम किसी भी मान्यता के गुलाम हो जाते हैं तो उसके प्रति इतनी गहरी आसक्ति पैदा कर लेते हैं कि हमेशा के लिए उसी के रंग का चश्मा पहन लेते हैं। अतः उस रंग के अतिरिक्त अन्य कोई रंग हमें दीखता ही नहीं। इस प्रकार सच्चाई से, शुद्ध धर्म से दूर हो जाते हैं। क्योंकि हर बात को अपने ही चश्मे के रंग से देखने के आदी हो जाते हैं।

मान लो, अन्धविश्वास, भावावेश अथवा बौद्धिक ऊहापोह के आधार पर हमने कोई सही सिद्धान्त ही स्वीकार कर रखा हो, परन्तु उसके प्रति हुई आसक्ति के कारण उस सिद्धान्त को स्वीकारने मात्र को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं, उसके व्यावहारिक पक्ष को सर्वथा भुला देते हैं। किसी सिद्धान्त को स्वीकारने मात्र से क्या बनता है? मुख्य बात तो उस सिद्धान्त को, यदि वह सही है तो, जीवन में उतारना चाहिए। जो जीवन में उतरे वही सही धर्म है अन्यथा निस्सार भावकुता है, थोथा बुद्धि-विलास है।

सैद्धान्तिक स्तर पर हम आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या निरीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी, इतने प्रकार के तत्त्वों की संख्या गिनने वाले हैं या उतने प्रकार के तत्त्वों की, इन-इन तत्त्वों की ऐसी-ऐसी व्याख्या करने वाले हैं या वैसी-वैसी, इससे क्या अन्तर पड़ता है? मुख्य बात तो यह है

कि व्यावहारिक जगत में हम शुद्ध चित्त का जीवन जी रहे हैं या नहीं। अपने आपको ईश्वरवादी कहने वाला व्यक्ति कल की चिन्ता में कितना व्याकुल हो रहा है? अपने आपको अनात्मवादी कहने वाला व्यक्ति अपने अहं में किस कदर डूबा हुआ है? ऐसी अवस्था में कोरा सैद्धान्तिक पक्ष किस काम का? मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है, आचरण की है। शुद्ध चित्त पर आधारित आचरण ही धर्म है। कोई विशेष वेषभूषा पहनें या न पहनें, कोई विशेष कर्मकाण्ड सम्पन्न करें या न करें, कोई विशेष दार्शनिक मान्यता मानें या न मानें; परन्तु यदि हमारा मन-मानस द्वेष-दौर्मनस्यता से भरा रहता है तो हम सर्वथा धर्म-हीन हैं और यदि वह स्नेह-सौमनस्यता से भरा रहता है तो हम धार्मिक ही हैं। कोई वेषभूषा, कोई कर्मकाण्ड, कोई दार्शनिक मान्यता हमारे चित्त की विशुद्धि में सहायक सिद्ध होती हो तो ग्राह्य है और यदि हमारी चित्तशुद्धि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो तो निरर्थक, निस्सार है। अगर यही हमें धार्मिक होने की मिथ्या भ्रान्ति पैदा करने वाली हो जाय तो जहरीले सांप की तरह खतरनाक है। अतः सर्वथा त्याज्य है। जब हम धर्म के सत्यसार को नहीं समझते तो ऐसे ही खतरनाक जहरीले सांप-बिच्छू अपने भीतर पालते हैं। भाँति-भाँति के गन्दे कूड़े-करकट बटोरकर उन्हें अपनी छाती से लगाकर कहते हैं—यही हमारा धर्म, यही अनमोल रत्न, यही मणि है।

जब तक धर्म की वास्तविक मणि नहीं प्राप्त होती, तब तक हम कंगाल हैं। हमारा जीवन निस्सार दिखावे, निरर्थक कर्मकाण्ड और निकम्मे बुद्धि-किलोल से भरा रहता है। परन्तु इतना होते हुए भी यदि हम इस सच्चाई को समझते हों कि यह सब सारहीन छिलके हैं; धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता में है, राग-द्वेष-मोह के बन्धनों से मुक्त होने में है, विषम स्थितियों में भी चित्त की समता बनाए रखने में है, मैत्री, करुणा, मुदिता में है और साथ-साथ यह भी समझते हों कि यह गुण हममें नहीं हैं, तो देर-सवेर हम धर्म के सार को प्राप्त कर ही लेते हैं। लेकिन जब हम इन निस्सार छिलकों को ही धर्म मानने लगें तो शुद्ध धर्म प्राप्त कर सकने की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। हम इन बाह्य छिलकों में रमे हुए कभी भीतर की ओर निहारते ही नहीं, आत्म-निरीक्षण करते ही नहीं। हम यह जाँच कभी करते ही नहीं कि जिसे धर्म माने जा रहे हैं, उसकी वजह से हमारे मन मानस में क्या सुधार हो रहा है? हमारे जीवन-व्यवहार में क्या सुधार हो रहा है? जन्म-

मरण से मुक्ति पाने की हजार चर्चाएँ करेंगे, हजार आशाएँ बाँधेंगे, परन्तु यहाँ इसी जीवन में मन को विकारों से मुक्त करने का जरा भी प्रयत्न नहीं करेंगे। धर्म का सार छूट जाने से जितनी बड़ी हानि होती है, उससे कई गुना बड़ी हानि निस्सार को सार समझकर उससे चिपक जाने से होती है। इससे तो रोग असाध्य हो उठता है।

धर्म की शुद्धता को जानना, समझना, जाँचना, परखना, रोग-मुक्ति का पहला आवश्यक कदम है। शुद्ध धर्म सदा स्पष्ट और सुबोध होता है। उसमें रहस्यमयी गुत्थियाँ नहीं होतीं। पहेली बुझौवल नहीं होता। दिमागी कसरत नहीं होती। प्रतीकों और अतिशयोक्तियों से भरा हुआ पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं होता। जो कुछ होता है वह सहज ही होता है। धर्म की शुद्धता इसी में है कि उसमें अटकल पच्चू, कपोल कल्पनाएँ नहीं होतीं। जो कुछ होता है यथार्थ ही होता है। धर्म कोरा-मोरा सिद्धान्त निरूपण नहीं होता। स्वयं साक्षात्कार, स्वयं अनुभव करने के लिए होता है। धर्म राजमार्ग की तरह ॠजु होता है। उसमें अन्धी गलियों जैसा भूल-भुलैया नहीं होता। धर्म यहीं इसी जीवन में लाभ देने वाला होता है। जितना-जितना पालन किया जाय, उतना-उतना लाभ देता ही है। धर्म आदि, मध्य, अन्त हर अवस्था में कल्याणकारी ही होता है। धर्म सर्वसाधारण के लिए समान रूप से ग्रहण करने योग्य होता है। ऐसा हो तो ही धर्म यथार्थ है, शुक्ल है, शुद्ध है। अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है।

शुद्ध धर्म क्या है ?

वाणी के कर्म, शरीर के कर्म, आजीविका, मानसिक स्वस्थता का अभ्यास, जागरूकता का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास शुद्ध हो, मानसिक चिन्तन और जीवन जगत के प्रति दृष्टिकोण भी शुद्ध हो। यही शुद्ध धर्म है।

मोटे-मोटे तौर पर कह सकते हैं—

(१) दान—अहंकार विहीन अपरिग्रह हेतु दिया गया दान शुद्ध धर्म है।

(२) शील—सदाचार का पालन करना, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण और नशे के सेवन से विरत रहना शुद्ध धर्म है।

(३) समाधि—मन को वश में करना, उसे एकाग्र कर वर्तमान के प्रति सजग रहने का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

(४) प्रज्ञा—"मैं" "मेरे" अथवा प्रिय-अप्रिय मूलक राग-द्वेष से रहित होकर हर व्यक्ति वस्तु और स्थिति को जैसी है, वैसी यथाभूत प्रज्ञापूर्वक देखने का अभ्यास, चित्त की समता का अभ्यास, शुद्ध धर्म है।

दान, शील, समाधि और प्रज्ञा के ये चारों अभ्यास सार्वजनीन हैं, साम्प्रदायिकता-विहीन हैं, सर्वजनहितकारी हैं, सर्वग्राह्य हैं। इसीलिए छिलकों से परे शुद्ध धर्म हैं। परन्तु ऐसे शुद्ध धर्म का अभ्यास न कर, चाहें कि हम धार्मिक हों और उससे भी अधिक यह चाहें कि लोग हमें धार्मिक मानें, तो धर्म के नाम पर विज्ञापनबाजी ही करते हैं। नाना प्रकार के बाह्याचार करते हैं। नाना प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद करते हैं, वाणी-विलास और बुद्धि-विलास करते हैं, और इस प्रकार आत्म-प्रवंचना जग-प्रवंचना के जंजाल में बुरी तरह जकड़ते जाते हैं। न आत्महित सधता है, न परहित।

आत्महित और परहित के लिए शुद्ध धर्म का जीवन जीना अनिवार्य है। शुद्ध धर्म का जीवन जीने के लिए धर्म की शुद्धता को जानना अनिवार्य है। धान को भूसे से, सार को छिलके से अलग करना अनिवार्य है। सार को महत्त्व देना सीखेंगे तो ही सार ग्रहण किया जा सकेगा।

शुद्ध धर्म का सार नहीं ग्रहण करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मी, पक्षपात संकीर्णता, कट्टरता, भय, आशंका, अविश्वास, आलस, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन, निस्तेज, निष्प्राण, निरुत्साही ही होगा; कुत्सित, कलुषित, कुटिल ही होगा; व्याकुल, व्यथित, व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण कर लेंगे तो प्यार और करुणा, स्नेह और सद्भाव, त्याग और बलिदान, सहयोग और सहकार, श्रद्धा और विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी ही होगा; उदात्त, अभय, अचिन्त्य ही होगा; सहज, सरल, स्वच्छ ही होगा; मंगल, कल्याण, स्वस्ति से भरपूर ही होगा।

शुद्ध धर्म का यही प्रत्यक्ष लाभ है। प्रत्यक्ष लाभ ही शुद्ध धर्म के सार की सही कसौटी है।

☆

धर्म न मिथ्या रूढ़ियां, धर्म न मिथ्याचार।
धर्म न मिथ्या मान्यता, धर्म सत्य का सार॥

जटा-जूट माला तिलक, हुए शीष के भार।
भेष बदल कर क्या मिला ? अपना चित्त सुधार॥

कर्मकांड न धर्म है, धर्म न बाह्याचार।
धर्म चित्त की शुद्धता, सेवा, करुणा, प्यार॥

गुण तो धारण न किया, रहे नवाते माथ।
बहा धर्म रस, रह गया फूटा बर्तन हाथ॥

अन्तर में जागे धरम, दुर्गुण होवें दूर।
सद्गुण से, सद्भाव से, रहे हृदय भरपूर॥

भीतर बाहर स्वच्छ हों, करें स्वच्छ व्यवहार।
सत्य, प्रेम, करुणा जगे, यही धर्म का सार॥

४. धर्म धारण करें

□ □

धर्म धारण करने में ही सच्चा कल्याण है।

धर्मचर्चा करनी कभी लाभप्रद हो सकती है, कभी लाभप्रद नहीं हो सकती और कभी हानिप्रद भी हो सकती है।

धर्मचिन्तन करना कभी लाभप्रद हो सकता है, कभी लाभप्रद नहीं हो सकता और कभी हानिप्रद भी हो सकता है।

परन्तु धर्म धारण करना तो सदैव लाभप्रद होता है।

धर्मचर्चा करके धर्म के बारे में श्रुत-ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह हमें प्रेरणा और मार्गदर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो धर्मचर्चा हमारे लाभ का कारण बनती है। परन्तु जब इससे हम केवल बुद्धिविलास करके ही रह जायँ तो धर्मचर्चा हमारे लिए लाभप्रद नहीं होती। जब यही श्रुत-ज्ञान हममें ज्ञानी होने का मिथ्या दम्भ पैदा कर दे तो धर्मचर्चा हमारी हानि का कारण बन जाती है।

यही बात धर्म चिंतन की है। धर्म का चिंतन-मनन बौद्धिक ज्ञान पैदा करके निरर्थक बुद्धिविलास का कारण बनता है। अथवा थोथा दम्भ पैदा करके हानि का कारण बनता है। परन्तु जब यही चिन्तन-ज्ञान धर्म धारण करने की प्रेरणा पैदा करे, मार्ग-दर्शन दे और फलतः हम धर्म धारण कर लें तो कल्याण का कारण बन जाता है।

वास्तविक कल्याण तो धर्म धारण करने में ही है। मिथ्या बुद्धिविलास में नहीं। मिथ्या दम्भ में नहीं।

अतः साधको, आओ! धर्म धारण करें! धर्म धारण कर स्वयं शीलवान बनें! समाधिवान बनें! प्रज्ञावान बनें!

यही मंगल मूल है। ☆

जीवन में धारण किए, धर्म होय फलवन्त।
बिन औषधि सेवन किए, कहाँ रोग का अंत?

जाने समझे धर्म को, पर न करे व्यवहार।
वृथा बोझ ढोता फिरे, कैसा मूढ़ गंवार!!

धारण करना धर्म है, वरना कोरी बात।
सूरज उगे प्रभात है, वरना काली रात॥

धर्म धार निर्मल बने, राजा हो या रंक।
रोग, शोक, चिंता मिटे, निर्भय होय निशंक॥

शुद्ध धर्म धारण करें, करें दूर अभिमान।
मिले अमित संतोष सुख, धर्म सुखों की खान॥

धारण कर ले बावरे, बिन धारे नहिं त्राण।
योग-क्षेम दातार है, धर्म बड़ा बलवान॥

५. बुद्धि-विलास धर्म नहीं है

□ □

चिन्तन-मनन द्वारा धर्म की सैद्धान्तिक जानकारी कर लेने मात्र से हमारा वास्तविक लाभ नहीं होता। यह जान और समझ लेने मात्र से कि रसगुल्ला मीठा है, हमारा मुँह मीठा नहीं हो सकता। उसके लिए तो हमें रसगुल्ला जीभ पर धरना ही होता है। केवल यह जान और समझ लेने से कि दूध पुष्टिकारक है, हमारी देह पुष्ट नहीं हो जाती। उसके लिए तो हमें दूध पीना ही होता है। जानना और समझ लेना हमारे कल्याण की पहली सीढ़ियाँ हैं। परन्तु केवल जान और समझकर ही रुक जायँ और जानी समझी बात को जीवन में न उतारें तो ऐसा जानना समझना व्यर्थ गया। कोरा बुद्धि-विलास, कोरी दिमागी कसरत हुई। और यही तो हम करते हैं।

धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के ऊहापोह, वाद-विवाद, चर्चा-परिचर्चा, बहस-मुबाहस, खंडन-मंडन, तर्क-वितर्क, व्यंजना-विश्लेषण, समझने-समझाने, सुनने-सुनाने, पढ़ने पढ़ाने, लिखने-लिखाने और बोलने-बतलाने में ही हम अपना सारा जीवन बिता देते हैं और दुर्भाग्य यह है कि इसी में अपने जीवन की सफलता मानते हैं।

अजीब सन्तोष होता है हमें अपनी धर्म-जिज्ञासा पूरी कर लेने में तथा बौद्धिक स्तर पर जाने हुए उस धर्म-ज्ञान को लच्छेदार भाषा में व्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेने में। इस आत्म-संतुष्टि को ही हमने जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान लिया है। सचमुच, कैसा आकर्षक है यह मृगजाल, जिसमें कि हम इतनी आसानी से फंस जाते हैं और फिर इस बन्धन को ही आभूषण मानकर गर्व अनुभव करते हैं।

☆

मत कर, मत कर, बावला, मत कर वाद विवाद।
खाल बाल की खैंच मत, चाख धर्म का स्वाद॥

कितने दिन यूँ ही गए, करते बुद्धि - विलास।
धर्म स्वाद चाखा नहीं, बुझी न मन की प्यास॥

चर्चा ही चर्चा करे, धारण करे न कोय।
धर्म बिचारा क्या करे? धारे ही सुख होय॥

यही धर्म का नियम है, यही धर्म की रीत।
धारे ही निर्मल बने, पावन बने पुनीत॥

जीवन सारा खो दिया, ग्रन्थ पढ़न्त पढ़न्त।
तोते मैना की तरह, नाम रटन्त रटन्त॥

मानव जीवन रतन सा, किया व्यर्थ बरबाद।
चर्चा कर ली धर्म की, चाख न पाया स्वाद॥

६. धर्म का सही मूल्यांकन

□ □

धर्म का सही मूल्यांकन करना सीखें। यदि सही मूल्यांकन करते रहेंगे तो दृष्टि सम्यक् रहेगी, नीर-क्षीर विभाजन-विवेक कायम रहेगा, धर्म-पथ पर अपना संतुलन बनाए रख सकेंगे। अन्यथा धर्म का कोई एक अंग आवश्यकता से अधिक महत्त्व पाकर धर्म-शरीर की सर्वांगीण उन्नति में बाधक बन जायेगा। सम्यक् दृष्टि यही है कि जिसका जितना मूल्य है उसको उतना ही महत्त्व दें। न अधिक, न कम। कंकड़-पत्थर, काँच, हीरा, मोती, नीलम, मणि सब का अपना-अपना महत्त्व है। मिट्टी, लोहा, ताँबा, पीतल, चाँदी, सोना, सबका अलग-अलग मूल्य है। जिसका जितना महत्त्व है उसका उतना ही मूल्य है। लोकीय क्षेत्र में काँच और हीरे का, मिट्टी और सोने का एक जैसा मूल्यांकन नहीं किया जाता। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में सब धान पाँच पसेरी नहीं तोले जाने चाहिए। टके सेर भाजी, टके सेर खाजा का अविवेकी मूल्यांकन नहीं होना चाहिए। अन्यथा या तो किसी निस्सार छिलके को ही धर्म मान बैठेंगे अथवा धर्म के किसी नन्हें से प्राथमिक कदम को ही सब कुछ मानकर शुद्ध धर्म की उच्चतम अवस्थाएँ कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

मसलन, दान देना अच्छा है। धर्म का एक अंग है। परन्तु धर्म की कसौटी पर दान का भी अलग-अलग मूल्यांकन होना चाहिए। वित्तीय नहीं, नैतिक। दान अधिक है या कम इसका कोई महत्त्व नहीं होता। परन्तु देते समय चित्त की चेतना कैसी है, यही ध्यान देने की बात है। यदि उस समय चित्त में क्रोध, या चिड़चिड़ाहट या घृणा या द्वेष या भय या आतंक या बदले में कुछ प्राप्त करने की तीव्र लालसा है या यश की प्रबल कामना है अथवा प्रतिस्पर्धा का उत्कट भाव है तो ऐसा दान शुद्ध, निष्काम, निरहंकार चित्त से

दिए गए दान की अपेक्षा बहुत हल्का है। भले मात्रा में अधिक क्यों न हो। शुद्ध चित्त से दिए गए दान का अधिक महत्त्व है। इससे अपरिग्रह और त्याग धर्म पुष्ट होता है। पर इसके महत्त्व की भी अतिरन्जना कर इसे ही सब कुछ मान बैठे तो धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना होगी और वे कमजोर रह जाएँगे।

इसी प्रकार उपवास भी धर्म का एक अंग है। हम उपवास द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हैं। स्वस्थ शरीर से ही धर्म का सुगमतापूर्वक पालन किया जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक संयम के लिए भी उपवास उपयोगी है। उपवास करें और मन भिन्न-भिन्न पकवानों में रमता रहे तो ऐसा उपवास हीन कोटि का होगा। उपवास करें और केवल शरीर को ही नहीं, बल्कि मन को भी संयमित करें तो उपवास उच्च कोटि का होगा। हीन कोटि की तो बात ही क्या, उच्च कोटि के उपवास का भी अतिरंजित मूल्यांकन कर उसे ही सब कुछ मान बैठेंगे तो अहंभाव के शिकार हो जाएँगे और धर्म के उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंग अछूते या कमजोर रह जाएँगे। उनका अभ्यास करना तो दूर की बात रही, उन्हें पुष्ट करने की बात भी हम कभी नहीं सोचेंगे।

उपवास करने वाला शील-सदाचार के क्षेत्र में दुर्बल हो तो उपवास करने वाले शीलवान व्यक्ति से हीन है। इसी प्रकार सामिष भोजन से निरामिष भोजन, चटपटे मिर्च-मसाले वाले राजसी भोजन से सादा सात्विक भोजन करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है, उत्तम है। परन्तु सात्विक निरामिष भोजन करने वाला व्यक्ति इसी एक गुण के कारण अपने आपको अन्य सभी से श्रेष्ठ मानने लगे तो मिथ्या अहं के कारण शुद्ध धर्म के उन्नतिपथ से भटक जायेगा। भोजन में मात्रज्ञ और गुणज्ञ होना, यानी उतना ही और वैसा ही भोजन करना जितना और जैसा कि हमारे शरीर के लिए उपयोगी और आवश्यक है—धर्म का एक अच्छा अंग है। परन्तु धर्म के उससे भी अच्छे और ऊँचे अंग हैं, ऐसा नहीं जानेंगे तो उनसे वंचित रह जाएँगे।

अपना अधिकांश समय आलस्य, प्रमाद, तन्द्रा में गँवाने वाले व्यक्ति की अपेक्षा यथावश्यक कम से कम समय सोकर, अधिक से अधिक समय जागरूक रहने वाला व्यक्ति निश्चितरूप से अधिक अच्छा है। परन्तु ऐसे व्यक्ति को भी

धर्म-पथ की आगे की बहुत सी मंजिलें प्राप्त करनी होती हैं, इसे वह न भूल जाय।

टहलना, दौड़ना, तैरना, व्यायाम करना और इसी तरह आसन, प्राणायाम करना, शरीर को स्वस्थ और फुरतीला बनाए रखने के लिए आवश्यक है, लाभदायक है। इसी प्रकार रोज नहाना, शरीर को स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना अच्छा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में इनका अपना महत्त्व है, अपना मूल्य है। परन्तु केवल इन्हीं को सम्पूर्ण धर्म मान बैठें और शरीर की बाहरी-सफाई में ही लगे रह कर भीतरी सफाई रोक दें तो अपनी हानि ही होगी।

कोई व्रत पालन करता है तो इसलिए कि मन संयमित, निग्रहित, सबल, सुदृढ़ हो, धर्म मार्ग पर अविचल आरूढ़ हो। परन्तु इन व्रतों को ही सब कुछ मान बैठें तो यही बन्धन बन जायेंगे। कोई माला फेरता है और मन ही मन किसी मन्त्र का जाप करता है तो मन को एकाग्र करने के लिए ही। परन्तु मन की एकाग्रता का जरा भी अभ्यास करें नहीं और यन्त्रवत् माला फेरने और मन्त्र जपने की रूढ़ि को ही धर्म मान बैठना भटकाव है।

कोई मन्दिर जाकर अपने उपास्यदेव की मूर्ति के दर्शन करता है। इससे उसके मन में श्रद्धा जागती है। श्रद्धा से मन में सौमनस्यता जागती है। सौमनस्यता चित्त को एकाग्र करने में सहायक होती है। अपने उपास्यदेव की मूर्ति खुली आँखों से देखता है और फिर आँख मूँद कर बार-बार उसका ध्यान करता है। इस अभ्यास द्वारा वह आकृति बन्द आँखों के सामने भी आने लगती है। इस प्रकार चित्त को एकाग्र करने का एक साधन प्राप्त हो जाता है। आकृति का ध्यान करते-करते अपने उपास्य देव के गुणों का ध्यान करने लगता है और उन गुणों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करने लगता है। यह सचमुच कल्याणकारी है। परन्तु यह सब तो करे नहीं, केवल मन्दिर जाने और मूर्ति के सामने यन्त्रवत् सिर झुकाने को ही सम्पूर्ण धर्म मान ले तो वह गलत मूल्यांकन के कारण रूढ़ियों में उलझना है।

इसी प्रकार भजन कीर्तन तल्लीनता के लिए हैं। चित्त को एकाग्र करने के साधन हैं। परन्तु इन्हें इससे अधिक कुछ और मानने लगें तो फिर भुलावे में पड़ जाते हैं। किसी गुरु या संत का दर्शन, उसको किया गया नमन, उसके

प्रति श्रद्धा जगाने के लिए हैं। उसके गुणों को देखकर मन में प्रेरणा जगाएँ और वे गुण स्वयं धारण करें, इसी निमित्त हैं। परन्तु इसका इससे अधिक मूल्यांकन करने लगते हैं तो विवेक खो बैठते हैं और अन्धश्रद्धा के कारण बुद्धि जड़ होने लगती है। किसी धर्म ग्रन्थ का पाठ करते हैं अथवा श्रवण करते हैं तो इसलिए कि उससे हमें प्रेरणा मिले, मार्गदर्शन मिले, जिससे कि धर्म जीवन में उतार सकें। परन्तु इसे भुलाकर केवल श्रवण, पठन को ही सब कुछ मान लेते हैं तो गाड़ी फिर मिथ्यादृष्टि के दलदल में धंस जाती है।

कोरा वाणीविलास और बुद्धिविलास धर्म नहीं है। जीवन में उतरा हुआ शील-सदाचार ही धर्म है। शील-सदाचार की भी अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य और अप्रमाद—इन शीलों में से कोई एक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार अथवा कोई पाँचों का पालन करता है तो एक से दूसरा क्रमशः अधिक धार्मिक है। इनमें भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट शील का पालन इसलिए कर पा रहा है कि जिस परिस्थिति और परिवेश में वह जन्मा, पला और रहता है वह उस शील पालन के अनुकूल है। दूसरा व्यक्ति नितान्त प्रतिकूल परिस्थिति में भी उस शील का पालन करता है, मन को वश में रखता है तो यह दूसरा व्यक्ति पहले से अधिक श्रेष्ठ है।

मन को वश में करना धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। यही समाधि है। परन्तु एक व्यक्ति समाधि हासिल करने के लिए जिस आलम्बन का प्रयोग करता है, वह राग, द्वेष या मोह बढ़ाने वाला हो तो वह व्यक्ति दूषित चित्त से समाधिस्थ होता है। दूसरा व्यक्ति ऐसे आलम्बन अपनाता है जो कि राग, द्वेष और मोह को क्षीण करने वाले हैं, तो पहले की अपेक्षा यह दूसरा व्यक्ति अधिक उत्तम है। दूषित चित्त की एकाग्रता द्वारा मनोबल प्राप्त करके भी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ हासिल की जा सकती हैं। इनके बल पर सामान्य लोगों को चकाचौंध कर देने वाले चमत्कार प्रदर्शित किये जा सकते हैं। परन्तु इसे धर्म मान लेना खतरनाक है। यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति ने सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं, वह धर्मवान हो। अनेक दुःशील व्यक्ति चमत्कार प्रदर्शित करते हुए देखे जाते हैं। अतः चमत्कारों के आधार पर धर्म का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। करते हैं तो मूल्यांकन गलत होता है। समाधि के साथ शील की भूमिका अनिवार्य है।

शुद्ध समाधि के मार्ग पर भी विभिन्न उपलब्धियाँ होती हैं। कभी हम लगातार तीन घण्टे एक आसन पर बैठे रह जाते हैं। परन्तु आसन-सिद्धि साधना का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार एकाग्रता के अभ्यास के दौरान कभी-कभी बन्द आँखों के सामने हम प्रकाश, ज्योति, रूप, रंग, आकृतियाँ, दृश्य आदि देखने लगते हैं। कभी-कभी कानों से कोई अपूर्व शब्द सुनते हैं, नाक से कोई अपूर्व गन्ध सूंघते हैं, जीभ से कोई अपूर्व रस चखते हैं, शरीर से किसी अपूर्व स्पर्श का अनुभव करते हैं और इन भिन्न-भिन्न अतीन्द्रिय अनुभूतियों को दिव्य ज्योति, दिव्य शब्द, दिव्य गन्ध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श कह कर इनको आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने लगते हैं तो भटक ही जाते हैं। इसी प्रकार समाधि का अभ्यास करते हुए कभी सांस सूक्ष्म होते-होते अनायास रुक जाती है। स्वतः कुम्भक होने लगता है। अभ्यास करते-करते विचारों और वितर्कों का ताँता मन्द पड़ने लगता है और कभी निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था आ जाती है। एकाग्रता बढ़ती है तो भीतर प्रीति-प्रमोद जागता है। आनन्द की लहरें उठने लगती हैं। मन और शरीर रोमांच पुलक से भर जाता है। बहुत हल्कापन महसूस होता है। परन्तु इन भिन्न-भिन्न प्रिय अनुभूतियों को ही सब कुछ मानकर इनकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या करने लगें तो भी भटक जाते हैं। ये अनुभूतियाँ इस लम्बे मार्ग पर मील के पत्थरों जैसी हैं। इनमें से किसी के साथ चिपक जायँ तो वह पत्थर गले का भार बन जाता है। आगे बढ़ना मुश्किल कर देता है। ये अनुभूतियाँ धर्मशालाएँ जैसी हैं। इनमें से किसी को अन्तिम लक्ष्य मानकर उसमें टिक जायँ तो आगे के रास्ते पर चलना ही नहीं हो सकता। यात्रा बन्द हो जाती है। पहले से लेकर आठवें ध्यान तक की सभी समाधियाँ एक से एक अधिक उन्नत हैं। परन्तु आठों ध्यानों में पारंगत हो जाने पर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्पूर्णता नहीं मानी जाती। आठों समाधि समापत्तियों की सहज अनुभूति करने वाले साधक को भी प्रज्ञावान होना नितान्त आवश्यक है।

प्रज्ञावान प्रज्ञावान में भी भेद है। कोई प्रज्ञावान ऐसा है जिसने श्रुतमयी प्रज्ञा हासिल की है; यानी पढ़-सुनकर प्रज्ञा की जानकारी प्राप्त की है। दूसरा ऐसा है जिसने चिन्तनमयी प्रज्ञा भी हासिल की है यानी जो पढ़ा-सुना उसे चिन्तन-मनन द्वारा बुद्धि की कसौटी पर कसकर युक्तिसंगत मानकर ही स्वीकार

किया है। पहले से दूसरा प्रज्ञावान निश्चित रूप से उत्तम है। परन्तु पहले और दूसरे से वह तीसरा प्रज्ञावान कहीं अधिक उत्तम है जो कि भावनामयी प्रज्ञा हासिल करता है; यानी प्रत्यक्ष अनुभूतियों के बल पर स्वयं अपनी प्रज्ञा जगाता है।

हमने अपनी भावनामयी प्रज्ञा जाग्रत की है अथवा परायी प्रज्ञा के बल पर केवल बुद्धिरंजन किया है, इसकी स्वयं जाँच करते रहना चाहिए। प्रज्ञा के नाम पर यदि केवल बुद्धिरंजन हुआ होगा तो जीवन की विषम परिस्थितियों में मन उत्तेजित, उद्वेलित हुए बिना नहीं रहेगा। भावनामयी प्रज्ञा का जितना अभाव होगा, मानसिक असमता उतनी ही अधिक होगी। भावनामयी प्रज्ञा के बल पर जो व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, जैसी है उसको जब हम वैसे ही, उसके सही स्वरूप में और उसके सही गुण-धर्म-स्वभाव में देखते हैं तो अपने मन का सन्तुलन बिगड़ने नहीं देते। अन्तर्मन में समाई हुई दौर्मनस्य की विभिन्न ग्रन्थियाँ स्वतः खुलने लगती हैं। चित्त के दूषण दूर होते हैं। उसमें निर्मलता आती है। निर्मलता आती है तभी संकीर्णता के स्थान पर उदारता, दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना, द्वेष के स्थान पर प्यार, ईर्ष्या के स्थान पर मोद और वैर के स्थान पर मैत्री जागती है। ये सारे सद्गुण जीवन में आ रहे हैं या नहीं ? हमारे रोजमर्रा के व्यवहार में प्रकट हो रहे हैं या नहीं ? इसी मापदण्ड से धर्म के क्षेत्र में हम अपनी उन्नति को मापें। जैसे-जैसे प्रज्ञा में स्थित होते जाएँगे वैसे-वैसे स्वभाव से शील पुष्ट और समाधि सुदृढ़ होती जायेगी। मन वश में रहने लगेगा। सदाचार जीवन का सहज-स्वभाव बन जायेगा। उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अपने अन्धे स्वार्थ के लिए औरों की हानि करने की संकीर्ण बुद्धि दूर होगी। अपने सुख-साधन औरों को बाँट-कर भागीदार बनाने की दानवृत्ति सहजभाव से जीवन का अंग बन जाएगी। इस प्रकार जैसे-जैसे धर्म की सर्वांगीण पुष्टि होने लगेगी, वैसे-वैसे अनेक रूढ़ियाँ जो कभी धर्म-साधन के रूप में प्राप्त हुई थीं और जिन्हें कि नासमझी के कारण हमने सिद्धि मानकर छाती से चिपका लिया था, वह साँप की केंचुली की तरह बिना किसी कष्ट और प्रयास के अपने आप छूटती चली जायेंगी। और जो नई त्वचा आयेगी वह निष्प्राण नहीं बल्कि सजीव धर्म से उर्मिल होकर आएगी।

त्वचा का अपना महत्त्व है। परन्तु निष्प्राण हो जाय तो भी उसे चिपकाए रखना नासमझी है। छिलकों का अपना महत्त्व है। परन्तु उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय तो भी मोहवश उन्हें चिपकाए रखना नासमझी है। शुद्ध प्रज्ञा पुष्ट होती है तो हर वस्तु का उचित ही मूल्यांकन होता है। लुभावने तर्कजाल से प्रभावित होकर किसी उपयोगी वस्तु को नष्ट नहीं कर देते और न ही परम्पराओं के प्रति भावावेशमयी आसक्तियों के कारण किसी निकम्मी वस्तु को गले से लगाए रखते हैं। पुष्ट हुई प्रज्ञा से ऐसा विशुद्ध विवेक जागता है जिसमें न थोथा तर्कजाल टिक सकता है और न अंध भावावेश। धर्म के प्रत्येक अंग का सही-सही मूल्यांकन होने के कारण धर्म का सर्वांगीण और समुचित विकास होने लगता है।

सर्वांगीण और समुचित विकास न हो तो हम अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं। शरीर का कोई एक ही अंग जरूरत से ज्यादा विकसित हो जाय और बाकी सारा शरीर अविकसित रह जाय तो सारे शरीर के साथ-साथ वह विकसित अंग भी रोगी ही माना जाता है। इसी प्रकार धर्म शरीर का भी कोई एक अंग इतना अधिक विकसित हो जाय कि अन्य सभी अंगों के विकास में रुकावट पैदाकर दे तो सम्पूर्ण धर्म-शरीर तो रोगी हो ही जाता है वह अंग-विशेष भी रुग्ण ही माना जाता है। अतः समग्र धर्म-शरीर को स्वस्थ सबल रखने के के लिए आवश्यक है कि धर्म के सभी अंगों का समुचित विकास हो। इस निमित्त सभी अंगों का विवेक पूर्वक समुचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है।

माला तिलक जैसे बाह्याडम्बर, नदी स्नान, तीर्थाटन जैसे बाह्य कर्मकांड अथवा आत्मवाद अनात्मवाद जैसी बुद्धिरञ्जनीय दार्शनिक मान्यताएँ आदि की तो बात ही क्या, यदि हम एक अच्छे व्रत का पालन करते हुए अथवा किसी शील का पालन करते हुए उसकी भी अतिरञ्जना करने लगे तथा शुद्ध धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना करते हुए उसी से परामर्श यानि चिपकाव करने लगें तो यही शील-व्रत परामर्श हमारे लिए भयंकर रोग साबित हो जाय। इससे बचने के लिए और शुद्ध धर्म के सर्वांगीण और समुचित विकास के लिए हर बात का सही-सही उचित-उचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है। धर्ममय मंगल-जीवन की यही कल्याण कुन्जी है।

धर्म न तर्क-वितर्क है, धर्म न वाद-विवाद।
विरज विमल चैतन्य का, धर्म पुनीत प्रसाद॥

शुद्ध धर्म पालन करें, प्रज्ञा जगे विशुद्ध।
नीर क्षीर के भेद का, रहे विवेक प्रबुद्ध॥

शुद्ध धर्म का होय जब, सर्वांगीण विकास।
तो सद्गुण सद्भाव का, उजला होय उजास॥

धर्म न मंदिर में मिले, धर्म न हाट बिकाय।
धर्म न ग्रन्थों में मिले, जो धारे सो पाय॥

मंदिर मंदिर डोलते, वृद्ध हो गया छैल।
पग की पगतरियाँ घिसी, घिसा न मन का मैल॥

मंदिर मसजिद भटकते, किसे मिला भगवान?
सेवा करुणा प्यार से, स्वयं बनें भगवान॥

७. सही कुशल !

☐ ☐

सही कुशल किस बात में है ?

सही कुशल अपने मन को स्वच्छ, साफ रखने में है। उसे मंगल मैत्री से भरे रखने में है।

जब हम द्वेष-दौर्मनस्य से भर उठते हैं और कड़वे, कठोर वचन बोलते हैं, तब अपने मन की स्वच्छता खो बैठते हैं। और जब मन की स्वच्छता खो बैठते हैं, तब सुख-शान्ति खो बैठते हैं।

जब हम स्नेह सौमनस्य से भर उठते हैं, और मधुर मीठे वचन बोलते हैं, तब अपने मन के मैल से मुक्त रहते हैं। और जब मनके मैल से मुक्त रहते हैं; तब सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं।

दुर्मन मन औरों को भी दुखी बनाता है। किसी-किसी अवस्था में ओरों को दुखी नहीं भी बना पाए, परन्तु सभी अवस्थाओं में अपने आपको तो दुखी बनाता ही है। जब-जब मन द्वेष-दुर्भावनाओं से दुर्मन हो उठता है, तब तब अनिवार्य रूप से स्वयं बेचैन हो ही उठता है।

सुमन मन औरों को भी सुखी बनाता है। किसी किसी अवस्था में औरों को सुखी नहीं भी बना पाये, परन्तु सभी अवस्थाओं में अपने आपको तो सुखी वनाता ही है। जब-जब मन स्नेह सद्भावनाओं से सुमन हो उठता है; तब-तब अनिवार्य रूप से स्वयं शान्ति चैन भोगता ही है।

सौमनस्यता से भरा हुआ मन स्वयं सुखी रहता है। दौर्मनस्यता से भरा

हुआ मन स्वयं दुखी रहता है। यह प्रकृति का अटूट नियम है। यह ॠत है। यह धर्म नियामता है।

साधको ! प्रकृति के अटूट नियम के प्रति, इस ॠत, इस धर्मनियामता के प्रति सतत् जागरूक रहें और अपने मन को सौमनस्यता से भरने तथा दौर्मनस्यता से दूर रखने का प्रयास करते रहें।

इसी में अपना सही कुशल है। इसी में अपना वास्तविक मंगल है।

☆

द्वेष और दुर्भाव से, आकुल - व्याकुल होय।
स्नेह और सद्भाव से, हर्षित पुलकित होय॥

निर्धन या धनवान हो, अनपढ़ या विद्वान।
जिसने मन मैला किया, उसके व्याकुल प्राण॥

मन ही दुर्जन, मन सुजन, मन बैरी मन मीत।
जीवन में मंगल जगे, जब मन होय पुनीत॥

मन बंधन का मूल है, मन ही मुक्ति उपाय।
विकृत मन जकड़ा रहे, निर्विकार खुल जाय॥

अपना सुधरा चित्त ही, आए अपने काम।
जो सुख चाहे मानवी, मन पर राख लगाम॥

चित्त हमारा शुद्ध हो, सद्गुण से भर जाय।
करुणा मैत्री प्यार से, मन मानस लहराय॥

८. समता धर्म

☐ ☐

समता धर्म है। विषमता अधर्म। समता अनासक्ति है। विषमता आसक्ति। जहाँ आसक्ति है वहाँ दुःख है। जहाँ अनासक्ति है वहीं सच्चा सुख, सच्ची शान्ति है।

विपश्यना साधना द्वारा हम देखते हैं कि शरीर पर आधारित इस चित्त-धारा में विविध कारणों से समय-समय पर सुखद और दुखद दोनों ही प्रकार की संवेदनाएँ प्रकट होती रहती हैं। सुखद संवेदना हमें प्रिय लगती है और उसके प्रति राग पैदा होता है। परिणामतः उसे बनाये रखने के लिए आतुर रहते हैं। वह छूट न जाय, इसलिए आशंकित-आतंकित हो उठते हैं। असुरक्षितता की बेचैनी महसूस करने लगते हैं। परन्तु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के कारण यह सुखद संवेदना नष्ट होती ही है। और जब दुखद संवेदना प्रकट होती है तो उसके प्रति द्वेष जागता है। उसे दूर करने के लिए आतुर हो उठते हैं। क्या यह कभी दूर नहीं होगी? इस भय-आशंका से आतंकित हो उठते हैं। फिर असुरक्षा की बेचैनी में जकड़ जाते हैं। दोनों ही अवस्था में अशांत, बेचैन रहते हैं। राग और द्वेष से आसक्ति जागती है। असुरक्षा की भावना जागती है। मन अपना सन्तुलन खो बैठता है। यही विषमता है। सुखद-दुखद स्थितियों के रहते भी मन राग-द्वेष से विहीन रहे तभी अनासक्त रहता है। सुरक्षितता महसूस करता है। सन्तुलन नहीं खोता। शांत रहता है।

सुखद-दुखद स्थिति के प्रति पूर्ण संवेदनशील और जागरूक रहकर भी अविचलित रहना ही समता है। समता चट्टानी जड़ता नहीं है। मरघट की शान्ति नहीं है। जहाँ चित्त को उत्तेजित करने वाले आलंबन-उद्दीपन ही न हों,

वहाँ समता सही समता है यह कैसे कहा जा सकता है ? जहाँ उत्तेजित करने वाले आलंबन-उद्दीपन हों तो भी, उत्तेजित हो सकने वाला चित्त ही सुसुप्त हो, वहाँ भी समता सही समता है यह कैसे कहा जा सकता है ? समता नकारात्मक नहीं है; मूढ़ता, मूर्च्छा, कुण्ठा नहीं है। कोई हमें भाजी की तरह काट जाय और हमें पता ही न चले, ऐसी अचेतन अवस्था नहीं। यह कोई अनस्थेस्या की सूँघनी या मोर्फिन का इन्जैक्शन नहीं है। पूर्ण चेतन रहें, फिर भी सम रहें तो ही समता है अन्यथा गहरी नींद में सोने वाला अथवा मूर्छित अथवा मूढ़ व्यक्ति समता का दम्भ भर सकता है।

सुखद से प्रफुल्लित हो उठना और दुखद से मुरझा जाना ही वैषम्य है। दोनों के रहते सन्तुलित-समरस रहना समता है। परन्तु समता हमें अशक्त और कर्मशून्य नहीं बनाती। सच्ची समता आती है तो प्रवृत्ति जागती है। ऐसी प्रवृत्ति परम पुरुषार्थ का रूप धारण करती है। परम पुरुषार्थ में अपने-पराए का भेद नहीं रहता है। ऐसी पुरुषार्थ-प्रदायिनी सनता जितनी सबल होती है, जीवन में उतना मंगल उतरता है। आत्म-मंगल भी, जन-मंगल भी। समता जितनी दुर्बल होती है उतना ही अनर्थ होता है, अपना भी औरों का भी।

समता धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नहीं है। पलायन नहीं है। जीवन-विमुख होना नहीं है। समता धर्म जीवन-अभिमुख होकर जीना है। जीवन से दूर भागकर आखिर कहाँ जाएँगे ? विषयों से दूर भागकर कहाँ जाएँगे ? सारा संसार विषयों से भरा पड़ा है। विषय हमारा क्या बिगाड़ते हैं ? वे न हमारे शत्रु हैं, न मित्र। न भले हैं, न बुरे। भला-बुरा है उनके प्रति हमारा अपना दृष्टिकोण। अनासक्त अथवा आसक्त दृष्टिकोण। सम अथवा विषम दृष्टिकोण। यदि हम विषयों से दूर भागने के बजाय उनसे उत्पन्न होने वाले विकारों को समता से यानी अनासक्ति से देखना सीख जाएँ तो उन विषयों के रहते हुए भी विकारों को निस्तेज कर लेंगे। समता से देखना ही विशेषरूप से देखना है। प्रज्ञापूर्वक देखना है। सम्यक्‌दृष्टि से देखना है। यही विदर्शना है, यही विपश्यना है। समतामयी विपश्यना की दृष्टि प्राप्त होती है तो "मैं-मेरे" का और "राग-द्वेष" का कोहरा दूर होता है। जो जैसा है, वैसा ही दीखता है। और तब हम अन्ध प्रतिक्रिया करना छोड़ देते हैं। समता की सुदृढ़ भूमि पर स्थिर होकर हम जो कुछ करते हैं, वह

शुद्ध क्रिया होती है; प्रतिक्रिया नहीं। इसलिए कल्याणकारी होती है। अमंगल-कारी नहीं।

भीतर चित्तधारा में उठने वाली सुखद-दुखद संवेदनाओं के प्रति पूर्ण समता का भाव आने लगता है तो बाह्य जीवन में सहज समता प्रकट होने लगती है। बाह्य जीवन-जगत की सारी विषमताएँ आन्तरिक समता को भंग नहीं कर पातीं। जीवन में आते रहने वाले उतार-चढ़ाव, ज्वार-भाटे, बसंत-पतझड़, धूप-छाँह, वर्षा-आतप, हार-जीत, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि द्वन्दों से मन विचलित नहीं होता। सारी स्थितियों में समरस बना रहता है।

आन्तरिक समता की पुष्टि से ही योग-क्षेम पुष्ट होता है। इसी के बल पर हजार प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी अपनी सुरक्षा का मिथ्या भय दूर रहता है। जीवन में वैशारद्य आता है, निर्भयता आती है। अगले क्षण क्या हो जायेगा ? इसके लिए चिन्तित, व्यथित, आकुल-व्याकुल नहीं होता। मेरे पुत्र-कलत्र, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, सत्ता-शक्ति, स्वास्थ्य-आयु सुरक्षित रहेंगे या नहीं ? इन निरर्थक चिन्ताओं से मुक्ति मिलती है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति को अपरिवर्तनीय बनाए रखने का प्रमत्त प्रयास, जीवन-जगत की सतत् प्रवाहमान धारा को रोक रखने का उन्मत्त आग्रह, पानी के बुदबुदों को मुट्ठी में भींचकर 'मेरा' बनाए रखने का निपट निरर्थक प्रयत्न सहज ही छूट जाता है। जीवन से कुटिलता, विषमता, खिचाव-तनाव, स्वतः दूर होने लगते हैं। परिस्थितियों की बदलती हुई लहरों पर सहजभाव से तैरना आ जाता है। नितान्त कर्मशील रहते हुए भी परिणामों के प्रति उन्मुक्त निश्चिंतता आती है और साथ-साथ व्यवहार कौशल्य में प्रौढ़ता आती है। यही समता धर्म का मंगल परिणाम है।

समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कर्मों में शुद्धता आती है। उनमें सामञ्जस्य आता है। परिणामतः जीवन में स्वस्थता आती है। वात-पित्त-कफ में विषमता आने से शरीर रोगी हो जाता है। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर के कर्मों में विषमता आने से जीवन रोगी हो जाता है। मन में कुछ हो, बोलें कुछ और, करें कुछ और; तो अस्वस्थ ही हो जाएँगे। ताल-स्वर-लय की समता से जैसे तन्मयता आती है, वैसे ही मन-वाणी-शरीर के कर्मों की

समता से भी तन्मयता आती है। परम सुख प्राप्त होता है। समता का सुख संसार के सारे सुखों से परे है, श्रेष्ठ है।

समता ही स्वस्थता है। मन की समता नष्ट होती है तो नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक भी और परिणामतः शारीरिक भी। समतापूर्ण जीवन जीने वाला कलावन्त व्यक्ति ही स्वस्थ जीवन जीता है। समतामय जीवन जीने वाले का अहंभाव, आत्मभाव नष्ट होता है। वह अहंता-रहित अनात्मभाव का मंगल जीवन जीता है। 'मैं' और 'तू' का विषमताभरा एकांतीय एकपक्षीय दृष्टिकोण टूटता है। समता-समन्वय का अनेकान्तीय-अनेकपक्षीय दृष्टिकोण पनपता है। विषमता आसक्ति की ओर झुकाती है। आसक्ति अतियों की ओर झुकाती है। और अतियों की ओर झुक जाने के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण उत्पन्न होने लगते हैं। "केवल मेरी मुक्ति हो जाय, बाकी समाज भले जहन्नुम में जायँ। यह पुत्र, कलत्र, भाई, बन्धु सब बन्धन है। मुझे इनसे क्या लेना देना ? मैं कैसे अपनी मुक्ति साध लूँ ? इनके भले-बुरे से मुझे कोई लेन-देन नहीं।"—ऐसा सोचनेवाला व्यक्ति अतियों के एक अन्त में उलझा रहता है। दूसरी ओर केवल "मैं" और 'मेरे' परिवार की सीमित परिधि में आकंठ डूबा हुआ व्यक्ति अतियों के दूसरे अन्त में उलझा रहता है। समता धर्म मध्यम मार्ग का धर्म है। समता धर्म आत्म मंगल और परमंगल के समन्वय सामंजस्य का धर्म है। व्यक्ति जंगल के पेड़-पौधों की तरह स्थावर नहीं है। जंगम है, चलता-फिरता है और अन्य अनेक लोगों से उसका सम्पर्क, सम्बन्ध बना रहता है आत्म-शोधन के लिए कुछ काल एकांत वास करना और अन्तर्मुखी होना आवश्यक व कल्याणकारी है। परन्तु इस प्रकार शोधे हुए मन का बाह्य जगत में सम्यक् प्रयोग होने पर ही धर्म पुष्ट होता है।

"मैं" के संकुचित बिन्दु से चिपके रहने के कारण ही दृष्टि धूमिल हो जाती है। कर्मसिद्धान्त की वैज्ञानिकता स्पष्ट समझ में नहीं आती। आसक्ति-जन्य अतियों की ओर झुक जाता है और यह मानने लगता है कि हर व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों से ही प्रभावित होता है। औरों के कर्मों से उसे कुछ भी लेना-देना नहीं। जबकि सच्चाई यह है कि हर व्यक्ति अपने कर्मों से तो प्रभावित होता ही है, परन्तु सारे समाज के कर्मों से भी कम प्रभावित नहीं होता।

व्यक्ति अपने कर्मों का फलित पुतला तो है ही, परन्तु समग्र मानव समाज की अब तक की प्रगति या प्रतिगति की विरासत भी लिए ही हुए है। हमारे कर्म हमें तो प्रभावित करते ही हैं, परन्तु कमोबेश औरों को भी प्रभावित करते रहते हैं। हम अपने कर्मों की विरासत अपनी भवधारा को तो दे ही रहे हैं, परन्तु साथ-साथ आने वाली पीढ़ियों को भी कुछ न कुछ दे रहे हैं। न व्यष्टि समष्टि से अछूता रह सकता है और न समष्टि व्यष्टि से। न व्यक्ति समाज से अछूता रह सकता है और न समाज व्यक्ति से। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और समुदाय के सम्बन्धों में समता, सामंजस्य की स्थापना ही शुद्ध धर्म का मंगल परिणाम है। समता का शुद्ध धर्म जितना-जितना विकसित होता है, व्यक्ति उतना-उतना 'मैं' के संकुचित बिन्दु से आगे बढ़ता है। यह 'मैं' का बिन्दु ही है जो अपने इर्द-गिर्द 'मेरे' के वृत्त पैदा करता रहता है। शनैः-शनैः इस मेरे के वृत्त की संकीर्णता भी दूर होती है। 'मेरे' का वृत्त विकसित होते-होते साम्य की पूर्णता प्राप्त होने पर असीम हो जाता है।

जब तक 'मैं' की संकीर्णता में आबद्ध रहता है तब तक इस 'मैं' के लिए किसी की भी हानि करने में नहीं सकुचाता। दायरा जरा-सा बढ़ता है तो जिन्हें 'मेरा' कहता है उनकी हानि करने से रुकता है। 'मैं' के दायरे से निकलता है तो 'मेरे' के संकुचित दायरे तक सीमित हो जाता है। 'मेरी पत्नी', 'मेरा पुत्र' के दायरे तक। उससे और आगे बढ़ता है तो मेरे कुल, मेरे गोत्र, मेरे वर्ण, मेरी जाति, मेरे सम्प्रदाय, मेरे राष्ट्र की परिधि में अटक कर रह जाता है। समता धर्म में परिपुष्ट होता है तो ये परिधियाँ भी टूटती हैं। मानव मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के हित-सुख में अपना हित-सुख देखता है। किसी भी प्राणी के हित-सुख का हनन करके अपने हित-सुख की कुचेष्टा करना तो दूर, ऐसा चिन्तन तक नहीं कर सकता।

जहाँ दायरे हैं वहाँ विषमता है। दायरा जितना संकुचित है विषमता उतनी ही तीव्र है। साम्य का उतना ही अभाव है। साम्य के अभाव के कारण ही जो 'मैं' हूँ, जो 'मेरा' है, उसके हित-सुख के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए जो 'मैं' नहीं हूँ, जो 'मेरा' नहीं है उसकी हानि की जाती है। जब तक ऐसा है तब तक जीवन पाप से ही भरा रहता है। जो 'मैं-मेरा' है उनके लिए 'एक

कण' भी जुटा सके तो जो 'मैं-मेरा' नहीं है उनका 'एक मन' भी मिट्टी में मिलाते हुए नहीं हिचकते। 'मैं-मेरे' के लिए किसी दुर्बल के मुँह का कौर छीनते हुए नहीं झिझकते। "मैं-मेरे" के अन्वेषण में जघन्य से जघन्य पाप कर्म भी अनुचित नहीं लगता।

विषमता 'मैं-मेरे' की, 'अहं-मम' भाव की जननी है। अहं-मम भाव विषमता का पोषक है। अहं-मम भाव के कारण ही हम तीव्र लोभ के वशीभूत होकर संग्रह-परिग्रह करते हैं और अनेकों को अभावग्रस्त कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। तीव्र दम्भ के वशीभूत होकर ऊँचे कुल, ऊँचे वर्ण, ऊँची जाति का नशा सिर पर चढ़ाते हैं और समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव पैदा कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। सत्ता के मद में मदहोश होकर निर्बल और भोले लोगों का दमन और शोषण करते हैं और सामाजिक समता की हत्या करते हैं। इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने अहं का पोषण करते हुए, वैषम्य पैदा करते हैं। औरों के समान अधिकारों को कुचलते हुए निर्मम पैशाचिक व्यवहार करते हैं और अपने तथा अन्य सबों के दुख का कारण बनते हैं। यह सब समता के अभाव के कारण ही होता है। अपने-पराए का भेद मिटाकर साम्यभाव आए तो ऐसी नृशंसता कर ही न सकें। यदि मैं मिलावट की औषधि बेचने वाला लोभी व्यापारी हूँ तो अपने बीमार बेटे को वैसी औषधि कभी नहीं देता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी मिलावट की औषधि नहीं दूँगा। यदि मैं रिश्वतखोर शासक हूँ या शासनाधिकारी हूँ तो अपने बेटे से रिश्वत कभी नहीं लेता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी से भी रिश्वत नहीं लूँगा। यदि उच्च वर्ण के मिथ्यादम्भ का शिकार हूँ तो अपने पुत्र को अछूत कहकर कभी नहीं दुत्कारता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी अछूत कहकर नहीं दुत्कारूँगा। अपने और पराए का भेद दूर होना ही वैषम्य का दूर होना है। सर्वमंगलकारी साम्यभाव का प्रतिष्ठापित होना है।

जहाँ शुद्ध साम्यभाव प्रतिष्ठापित होता है, वहाँ स्व और पर की सीमा टूटती है। परिणामतः शोषण मिटता है, सहकारिता आती है। क्रूरता मिटती है, मृदुता आती है। अन्याय मिटता है, न्याय आता है। संकीर्णता मिटती है, विशालता आती है। अहंभाव-हीनभाव मिटता है, भ्रातृभाव आता है। अधर्म मिटता है, धर्म आता है।

एक ओर अपने मिथ्या स्वार्थों की सुरक्षा के लिए भयभीत और आतंकित होकर किसी दुर्बल व्यक्ति को कोहनी मारकर नीचे गिराने और उसे पाँव तले रौंदने की क्रूरता और दूसरी ओर योग-क्षेम से परिपूर्ण होकर निर्भय रहते हुए सब के हित-सुख में ही अपना हित-सुख देखने की विशाल हृदयता, इन दोनों के बीच की सारी स्थितियाँ समता धर्म के विकास की ही सीढ़ियाँ हैं ।

समता पुष्ट होती है तो सामंजस्य आता है, समन्वय आता है, स्नेह-सौहार्द्र आता है, सहिष्णुता आती है । सहयोग, सद्भाव, सहकारिता सहज-भाव से ही आ जाते हैं । इनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता । ये सब नहीं आ रहे हैं तो अवश्य कुछ कमी है । अभी जीवन में सही विपश्यना, सही समता नहीं आयी है । समता की साधना के नाम पर कोई छलना, कोई माया या कोई धोखा आया होगा । दार्शनिक बुद्धिविलास का एक और चमकीला लेप आया होगा । अवश्य ही अन्तर्मन अभी विषमता से भरा हुआ है। अपने आपको इसी कसौटी से कस कर जाँचते रहना चाहिए ।

सचमुच समता पुष्ट होगी तो अपनी हानि करके भी औरों का हित-साधन ही होगा और यह सहजभाव से होगा । दिए की बत्ती स्वयं जलती है पर बदले में लोगों को प्रकाश ही देती है । धूपबत्ती स्वयं जलती है पर बदले में सबको सुवास ही देती है । चन्दन की लकड़ी स्वयं कटती है पर बदले में सबके लिए सुरभि ही बिखेरती है । फलवाला वृक्ष पत्थर की मार स्वयं सहता है पर बदले में सबको फल ही देता है । और यह सब कुछ सहजभाव से होता है। समता सहज हो जाय तो सबके मंगल का स्रोत खुल जाय ।

ऐसे सर्वमंगलमय समता-धर्म में स्थापित होने के लिए अभ्यास करें !

☆

सुख-दुख दोनों एक से, मान और अपमान।
चित विचलित होवे नहीं, तो सच्चा कल्याण॥

जीवन में आते रहें, पतझड़ और बसंत।
मन की समता न छूटे, तो सुख-शांति अनंत॥

ज्यूं ज्यूं अंतर्जगत में, निर्मल समता छाय।
काया वाणी चित्त के, कर्म सुधरते जायँ॥

तन सुख, मन सुख, मान सुख, भले ध्यान सुख होय।
पर समता सुख परम सुख, अतुल अपरिमित होय॥

विषम जगत में चित्त की, समता रहे अटूट।
तो उत्तम मंगल जगे, होय दुखों से छूट॥

शुद्ध धर्म जग में जगे, होय विषमता दूर।
छाए समता सुखमयी, योग-क्षेम भरपूर॥

१. सरल चित्त

□ □

सरलता ही चित्त की विशुद्धि है। कुटिलता मलीनता है। मलीनता अनर्थकारिणी है, विशुद्धता सर्वार्थ-साधिनी। कुटिलता सर्व-हित-नाशिनी है। सरलता सर्व-हितकारिणी। न केवल अपने बल्कि सबके हित-सुख साधन के लिए सरलता अपनाएँ, कुटिलता त्यागें।

नैसर्गिक स्वच्छ मन स्वभाव से ही सरल होता है। सरलता गयी तो समझो स्वच्छता गयी। सरलता खोने के तीन प्रमुख कारण हैं जिनसे कि हमें सावधान रहकर बचना चाहिए। कौनसे तीन ? तृष्णा, अहमन्यता और दार्शनिक दृष्टियाँ। तण्हा-मान-दिट्ठि। इन तीनों में से किसी एक के प्रति मन में जब जितनी आसक्ति उत्पन्न होती है, तब हम उतनी ही सरलता खो बैठते हैं, उतनी ही स्वच्छता गँवा देते हैं, उतने मलीन हो जाते हैं, उतने सुख-शान्ति विहीन हो जाते हैं, उतने दुःखी हो जाते हैं।

जब किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति तृष्णा जागती है और आसक्ति बढ़ती है, तब उसे प्राप्त करने के लिए अथवा प्राप्त हुई हो तो अधिकार में रखने के लिए हम बुरे से बुरा तरीका अपनाने पर उतारू हो जाते हैं। चोरी, डकैती, झूठ-फरेब, छल-छद्‌म, प्रपंच-प्रवंचन, धोखा-धड़ी आदि सब कुछ अपनाते हैं। अपने पागलपन में मन की सारी सरलता खो देते हैं। साध्य हासिल करने की आतुरता में साधनों की पवित्रता खो देते हैं। प्रिय के प्रति अनुरोध ही अप्रिय के प्रति विरोध उत्पन्न करता है। इससे हम इतने प्रमत्त हो उठते हैं कि तृष्णा पूर्ति में जो भी बाधक लगता है, उसे दूर करने के लिए, नष्ट करने के लिए असीम क्रोध, रोष, द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य और दुर्भावनाओं का प्रजनन करने लगते हैं और परिणामस्वरूप अपनी सुख-शान्ति भंग कर लेते हैं। मन की सरलता नष्ट कर लेते हैं।

इसी प्रकार जब 'मैं-मेरे' के प्रति आसक्ति बढ़ती है तो उस मिथ्या कल्पित 'मैं-मेरे' की मिथ्या सुरक्षा और मिथ्या हित-सुख के लिए, जिन्हें 'मैं-मेरा' नहीं मानते उनकी बड़ी से बड़ी हानि करने पर तुल जाते हैं। ऐसा कर वस्तुतः अपनी ही अधिक हानि करते हैं। अपने मन की सरलता की हत्या करते हैं, अपनी आन्तरिक स्वच्छता खो बैठते हैं, अपनी सुख-शान्ति गँवा बैठते हैं। औरों को ठगने के उपक्रम में स्वयं ही ठगे जाते हैं।

इसी प्रकार जब हमें किसी दार्शनिक दृष्टि अथवा साम्प्रदायिक मान्यता के प्रति आसक्ति हो जाती है तो संकीर्णता के शिकार हो जाते हैं और मन की सहज सरलता खो बैठते हैं। मन जब पानी की तरह सहज-सरल-तरल होता है तो अपने आपको सच्चाई के पात्र के अनुकूल ढाल लेता है और अपनी सरलता भी नहीं गँवाता। रास्ते में अवरोध आता है तो कल-कल करता हुआ उसके बगल से निकल जाता है। कोई अवरोध उसे काटता है, दो टुकड़े करता है, तो कटकर भी अवरोध के आगे बढ़ता हुआ फिर जुड़ जाता है और वैसे का वैसा हो जाता है। जब कोई अवरोध दीवार की तरह सामने आकर गति अवरुद्ध कर देता है तो धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे ऊँचा उठता हुआ उस दीवार को लाँघकर सहजभाव से आगे बह निकलता है। परन्तु मन जब पत्थर की तरह कठोर हो जाता है तो चट्टानों से टकराकर चिनगारियाँ पैदा करता है, चूर-चूर होता है। जब हमारी दृष्टि दार्शनिक विश्वासों, अंधमान्यताओं, कर्म-काण्डों और बाह्य आडम्बरों के प्रति आसक्त होकर रूढ़ हो जाती है तब पथरा जाती है। पथराई हुई दृष्टि निर्जीव हो जाती है, हमें अंधा बनाती है और हमारे कल्याण का रास्ता बन्द करती है। साम्प्रदायिकता की दासता में जकड़े रहने के कारण हम सत्य को अपने चश्मे से ही देखना चाहते हैं। उसे तोड़-मरोड़कर अपनी मान्यता के अनुकूल बनाना चाहते हैं, उस पर अपना रंग-रोगन लगाकर उसकी सहज स्वाभाविकता, सहज सौन्दर्य नष्ट करते हैं। इस दुष्प्रयास में अपने मन की सरलता नष्ट करते हैं। उसे कुटिलता से भरते हैं।

कुटिलता कठोरता है, सरलता मृदुता। कुटिलता अभिमानता है, सरलता निरभिमानता। कुटिलता ग्रन्थि-बंधन है, सरलता ग्रन्थि-विमोचन।

ग्रन्थि-बंधन बड़ा दुःखदायी है। सच्चा सुख तो ग्रन्थि-विमोचन में ही है, विमुक्ति में ही है। जब-जब सरलता खोकर कुटिलता अपनाते हैं, तब-तब

अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। भीतर ही भीतर तनाव-खिचाव शुरू हो जाता है। अनजाने में गाँठें बाँधने लगते हैं। अन्तर्मन गाँठ-गठीला हो उठता है। उसके साथ-साथ शरीर के रेशे-रेशे मूंज की रस्सी की तरह बल खा-खा कर अकड़ जाते हैं। इससे हम बेचैन, अशांत, व्याकुल ही रहते हैं। हमारी यह आन्तरिक व्याकुलता जब-तब चिड़चिड़ाहट और झुँझलाहट के रूप में बाहर प्रकट होती है और इस प्रकार हम अपनी बेचैनी औरों पर बरसाते हैं।

इसके विपरीत मन जब सहज-सरल रहता है तो मृदु-मधुर, सौम्य-स्वच्छ, शीतल-शांत रहता है। शरीर भी हल्का-फुल्का और पुलक-रोमांच से भरा रहता है। परिणामतः हम प्रीति-प्रमोद और सुख-सौहार्द्र से भर उठते हैं। हमारा यह आन्तरिक प्रीति-सुख मैत्री और करुणा के रूप में बाहर प्रकट होता है और इस प्रकार हम अपनी सुख-शांति औरों को बाँटते हैं। आस-पास के सारे वायुमण्डल को प्रसन्नता से भरते हैं।

इसीलिए, आत्महित, परहित और सर्वहित के लिए, कुटिलता त्यागें। सरलता अपनाएँ !

कुटिलता में महा अमंगल समाया हुआ है, सरलता में महा मंगल।

□

जो चाहे अपना कुशल, जो चाहे निर्वाण।
सरल, सरल अति सरल बन, छोड़ कपट अभिमान ॥

जब तक मन में कुटिलता, मुक्त हुआ ना कोय।
जिसने त्यागी कुटिलता, सहज मुक्त है सोय ॥

अपने मन की कुटिलता, अपना ही दुख भार।
अपने मन की सरलता, अपना ही सुख सार ॥

कपट रहे ना कुटिलता, रहे न मिथ्याचार।
शुद्ध धर्म ऐसा जगे, होय स्वच्छ व्यवहार ॥

सहज सरल मृदु नीर सा, मन निर्मल हो जाय।
त्यागे कुलिस कठोरता, गांठ न बंधने पाय ॥

बाहर भीतर एक रस, सरल स्वच्छ व्यवहार।
कथनी करनी एक सी, यही धर्म का सार ॥

१०. धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप

□ □

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग-थलग रहना उसके लिए न उचित है और न ही संभव। समाज में रहते हुए समाज के लिए अधिक से अधिक स्वस्थ सहायक बना रह सके, इसी में उसके जीवन की उपादेयता है, सार्थकता है। स्वस्थ व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। अस्वस्थ व्यक्ति वही है जिसका मन विकारों से विकृत रहता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो दुखी रहता ही है अपने सम्पर्क में आने वालों को भी उत्तापित करता है। अतः सुखी-स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति को सुख-स्वास्थ्य से भरपूर करना नितान्त आवश्यक है। एक-एक व्यक्ति स्वच्छ-चित्त हो, शान्तचित्त हो, तो ही समग्र समाज की शान्ति बनी रह सकती है। धर्म इस व्यक्तिगत शान्ति के लिए एक अनुपम साधन है और इस कारण विश्व-शान्ति का भी एकमात्र साधन है।

धर्म का अर्थ सम्प्रदाय नहीं है। सम्प्रदाय तो मनुष्य-मनुष्य और वर्ग-वर्ग के बीच दीवारें खड़ी करने, विभाजन पैदा करने का काम करता है। जबकि शुद्ध धर्म दीवारों को तोड़ता है, विभाजनों को दूर करता है।

शुद्ध धर्म मनुष्य के भीतर समाए हुए अहंभाव अथवा हीनभाव को जड़ से उखाड़ फेंकता है। मानव मन की आशंकाएं, उत्तेजनाएं, उद्विग्नताएं दूर करता है और उसे स्वच्छता और निर्मलता के उस धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, जहाँ न अहंकारजन्य दंभ टिक सकता है और न ही हीनभाव की ग्रन्थियों से ग्रस्त दैन्य पनप सकता है। जीवन में समत्वभाव आता है और हर वस्तु, व्यक्ति और स्थिति को उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने की निर्मल प्रज्ञा जागती है। अतिरंजना और अतिशयोक्तियों में डूबा हुआ भक्ति-भावावेश

दूर होता है। ज्ञान, विवेक, बोधि के अंतर्चक्षु विरज-विमल बन जाते हैं। अन्तर्दृष्टि पारदर्शी बन जाती है। उसके सामने से सारा कुहरा, सारी धुंध दूर हो जाती है। यह जो हमने सुनी-सुनाई और पढ़ी-पढ़ाई बातों से अपने मन को विकृत कर लिया है, यही पूर्वाग्रह रूपी विकृतियां सत्य दर्शन में बाधा पैदा करती हैं। पूर्वनिश्चित धारणाएं और मान्यताएं हमारी आँखों पर रंगीन चश्मों की तरह चढ़ी रहती हैं और हमें वास्तविक सत्य को अपने ही रंग में देखने के लिए बाध्य करती हैं। धर्म के नाम पर हमने इन बेड़ियों को सुन्दर आभूषणों की तरह पहन रखा है। सच्ची मुक्ति के लिए इन बेड़ियों का टूटना नितान्त आवश्यक है।

चित्त को राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, मात्सर्य, दुर्भावना, दौर्मनस्य, भय, आशंका, मिथ्या काल्पनिक दृष्टियों, मान्यताओं और रूढ़ियों की जकड़ से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि सारी रूढ़ परम्पराओं को एक ओर रखकर, भावुकता को दूर हटाकर, हम यथार्थ में जीना सीखें। यथार्थ में जीना वर्तमान में जीना है, इस क्षण में जीना है। क्योंकि बीता हुआ क्षण यथार्थ नहीं, वह तो समाप्त हो चुका। अब तो केवल उसकी याद रह सकती है, वह क्षण नहीं। इसी तरह आने वाला क्षण अभी उपस्थित नहीं है, उसकी केवल कल्पना और कामना हो सकती है; यथार्थ दर्शन नहीं। वर्तमान में जीने का अर्थ है, इस क्षण में जो कुछ अनुभूत हो रहा है, उसी के प्रति जागरूक होकर जीना। भूतकाल की सुखद या दुखद स्मृतियाँ अथवा भविष्य-काल की सुखद या दुखद आशाएं आशंकाएं हमें वर्तमान से दूर ले जाती हैं और इस प्रकार सच्चे जीवन से विमुख रखती हैं। वर्तमान से विमुख ऐसा थोथा निस्सार जीवन ही हमारे लिए विभिन्न क्लेशों का कारण बनता है। अशान्ति, असंतोष, अतृप्ति, आकुलता, व्यथा और पीड़ा को जन्म देता है। जैसे ही हम 'इस क्षण' का यथाभूत दर्शन करते हुए जीने लगते हैं, वैसे ही क्लेशों से स्वाभाविक मुक्ति मिलने लगती है।

इस देश के एक महापुरुष भगवान तथागत गौतमबुद्ध को यही सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई। इस क्षण में जीना सीखकर चित्त को संस्कारों से विहीन कर, परम परिशुद्ध कर, बंधनमुक्त हो सकने की कला हासिल हुई। उन्होंने जीवन भर लोगों को इसी कल्याणकारिणी कला का अभ्यास कराया। इसी

मंगलमयी विधि का नाम विपश्यना साधना है। साधक इस क्षण जो कुछ अनुभूत हो रहा है उसी के प्रति जागरूक रहने का अभ्यास करता है। अपनी काया के प्रति जागरूक रहते हुए कायानुपश्यना करता है। काया के भिन्न-भिन्न अंगों में अनुभूत होने वाली समस्त सुखद व दुखद अथवा असुखद-अदुखद संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहते हुए वेदनानुपश्यना करता है। अपने चित्त के प्रति जागरूक रहकर चित्तानुपश्यना करता है। चित्त में उठने वाली विभिन्न अच्छी-बुरी वृत्तियों के प्रति, उनके गुण, धर्म, स्वभाव के प्रति जागरूक रहता हुआ और अंततः काया, संवेदना, चित्त और चित्त वृत्तियों की परिसीमाओं से परे निर्वाण धर्म का साक्षात्कार करता हुआ धर्मानुपश्यना करता है। जागरूकता का यह अभ्यास उसके चित्त पर पड़े हुए सभी बुरे विकारों और संस्कारों का उच्छेदन करता है। चित्त धीरे-धीरे आसक्तियों, आस्रवों, व्यसनों, तृष्णाओं और तीव्र लालसाओं के बंधन से, अतीत की सुखद-दुखद यादों की निरर्थक उलझनों से, भावी आशंकाओं के भय-भीतिजन्य मानसिक उत्पीड़न से, भविष्य के सुनहरे स्वप्नों की काल्पनिक उधेड़बुन से विमुक्त होता हुआ, अपनी स्वाभाविक नैसर्गिक स्वच्छता को प्राप्त होता है।

समस्त ऐंठन-अकड़नभरी ग्रन्थियों और खिचाव-तनावभरी मानसिक पीड़ाओं को दूर करने का यह एक सहज-सरल तरीका है, जो मानवमात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। इसका अभ्यास करने के लिए यह अनिवार्य नहीं कि कोई अपने आपको बौद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित करे। यह भी अनिवार्य नहीं कि इस बिधि के प्रवर्तक भगवान बुद्ध की मूर्ति को नमन करे। उसे धूप, दीप, नैवेद्य, आरती से पूजित करे। यह भी नहीं कि साधक उस आदि गुरु के रूप या आकार का ध्यान करे अथवा उसके नाम या मंत्र का जप करे। यह भी नहीं कि उसकी शरण ग्रहण करने के नाम पर ऐसा अंध आत्म-समर्पण कर दे कि बिना स्वयं कुछ किये, केवल उसकी कृपा से ही तर जाने की मिथ्या भ्रांति सिर पर चढ़ जाय। इस विधि से स्वयं लाभान्वित होने के बाद अथवा अन्य लोगों को लाभान्वित होते देखकर यदि कोई साधक उस महाकारुणिक, महाप्रज्ञावान भगवान तथागत के प्रति कृतज्ञता-विभोर होकर उनकी करुणा और प्रज्ञा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करे तो कोई दोष नहीं। गुणों के प्रति प्रकट की हुई श्रद्धा उन गुणों को अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा प्रदान करती है। अतः कल्याणकारिणी होती है।

इसी प्रकार कृतज्ञता भी चित्त की एक मंगलमयी सद्वृत्ति है। श्रद्धा और कृतज्ञता की भावना चित्त को मृदुल बनाती है, जोकि विपश्यना साधना के इस चित्त-विशुद्धीकरण के प्रयास में सहायक होती है।

विपश्यना साधना काया और चित्त की प्रकृति के यथार्थ स्वरूप के प्रति जागरूक रहना सिखाती है। प्रकृति के यथार्थ दर्शन का यह अभ्यास किसी भी वर्ग, सम्प्रदाय, जाति, देश, काल व बोली-भाषा के व्यक्ति के लिए कोई कठिनाई पैदा नहीं करता। मानव अपनी ही मानवीय प्रकृति का स्वयं अध्ययन करता है। आत्म-दर्शन करता है। आत्म-निरीक्षण करता है। अपने भीतर समाई हुई गन्दगियों का यथाभूत दर्शन करता है। अपने मनोविकारों का यथार्थ अवलोकन करता है। इस प्रकार देखते-देखते वे मनोविकार दूर होते हैं और साधक एक भला, नेक आदमी बनकर सच्चे मानवीय धर्म में संस्थापित होता है। ऐसा नेक इन्सान किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदाय का क्यों न हो, सारे मानव समाज का गौरव साबित होता है। स्वयं तो सुख-शान्ति से रहता ही है, अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य सभी लोगों की सुख-शान्ति बढ़ाने में भी सहायक सिद्ध होता है।

सद्धर्म का यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वहितकारी स्वरूप अधिक से अधिक लोगों को उपलब्ध हो और उनके हित-सुख का कारण बने, यही मंगल कामना है।

☆

सम्प्रदाय न धर्म है, धर्म न बने दिवार।
धर्म सिखाए एकता, धर्म सिखाए प्यार॥

शुद्ध धर्म जागे जहाँ, होय सभी का श्रेय।
निज हित, पर हित, सर्व हित, यही धर्म का ध्येय॥

धर्मवान की जिन्दगी, सबके सुख हित होय।
अपना भी होए भला, भला सभी का होय॥

धर्म - विहारी पुरुष हों, धर्म - चारिणी नार।
धर्मवन्त संतान हो, सुखी होय संसार॥

बीते क्षण में जी रहे, या जो आया नाय।
इस क्षण में जीएँ अगर, तो जीना आ जाय॥

पल-पल-क्षण-क्षण सजग रह, अपने कर्म सुधार।
सुख से जीने की कला, अपनी ओर निहार॥

११. धर्म ही रक्षक है

□ □

अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए चिन्तित रहना मनुष्य मन का स्वभाव बन गया है। आने वाले क्षण सुखद हों, योग-क्षेम से परिपूर्ण हों इस निमित्त मानव भाँति-भाँति की शरण खोजता है, आश्रय ढूँढ़ता है, सहारा टटोलता है। परन्तु धर्म को छोड़कर कोई शरण, आश्रय, सहारा है ही नहीं, जो कि उसे भविष्य के प्रति निशंक और निर्भय बना दे, योग-क्षेम से परिपूर्ण कर दे। अतः धर्म शरण ही एकमात्र शरण है, धर्म का संरक्षण ही एकमात्र सही संरक्षण है। धर्म वह जो हमारे भीतर जागे, जिसे हम स्वयं धारण करें। किसी दूसरे के भीतर जागा हुआ, किसी दूसरे द्वारा धारण किया हुआ धर्म, हमारे किस काम का ? वह तो अधिक से अधिक हमें प्रेरणा और विधि प्रदान कर सकता है। परन्तु हमारा वास्तविक लाभ तो स्वयं धर्म धारण करने में है। अतः धर्म शरण का सही अभिप्राय आत्म-शरण है। इसीलिए कहा गया—अत्तसम्मा पणिधि च एतं मंगलमुत्तमं। यानी हमारा उत्तम मंगल इसी बात में है कि हम सम्यक् प्रकार अर्थात् भली-भाँति आत्म-प्रणिधान का अभ्यास करें। किसी भी बाह्य-शक्ति के प्रणिधान का अभ्यास हमें कायर, परावलम्बी और असमर्थ ही बनाएगा। यह आत्म-द्वीप और आत्म-शरण ही है, जो कि सही माने में धर्म द्वीप और धर्म-शरण है। हर संकट में हम अपने भीतर का धर्म जगाएँ। स्वयं धारण किए हुए धर्म द्वारा एक ऐसा सुरक्षित द्वीप बनाएँ जिसमें कि हमारे जीवन की डगमगाती हुई नैया सही संरक्षण पा सके, संकटों के प्रति हमारी सुरक्षा स्थिर हो सके।

मुख्य बात यही है कि हम अपने भीतर की प्रज्ञा जगाए रखें और इसके लिए समाधि द्वारा अपने चित्त की एकाग्रता पुष्ट रखें तथा कायिक, वाचिक

दुष्कर्मों से बचते हुए अपने शील को अखंडित रखें। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह विशुद्ध धर्म हम जितना सुरक्षित रखेंगे यानी हम जितने-जितने धर्म-विहारी बनेंगे, उतने-उतने ही इस स्वयं पालन किए हुए, स्वयं धारण किए हुए, स्वयं सुरक्षित किए हुए धर्म द्वारा अपना सुरक्षण, संरक्षण पायेंगे। सचमुच

"धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं।"

धर्मचारी की रक्षा धर्म स्वयं ही करता है। तो अपनी सही सुरक्षा के लिए स्वयं सच्चे धर्मचारी, धर्म-विहारी, धर्म-पालक बनें। इसी में हमारा मंगल, भला, कल्याण निहित है।

☆

धर्म सदृश ना कवच है, धर्म सदृश ना ढाल।
धर्म - पालकों की सदा, धर्म करे प्रतिपाल।।

प्रलयंकारी बाढ़ में, धर्म सदृश ना द्वीप।
काल अंधेरी रात में, धर्म सदृश ना दीप।।

धर्म सदृश रक्षक नहीं, सखा, सहायक, मीत।
चलें धर्म के पंथ पर, रहे धर्म से प्रीत।।

जीवन में झंझा उठे, उठे तेज तूफान।
शरण ग्रहण कर धर्म की, धर्म बड़ा बलवान।।

भले जगत प्रतिकूल हो, कोई मित्र न होय।
धर्म सतत जाग्रत रहे, तो मंगल ही होय।।

धर्म हमारा ईश है, धर्म हमारा नाथ।
हमको भय किस बात का ? धर्म सदा ही साथ।।

१२. क्या पड़ा है 'नाम' में ?

□ □

पुरानी बात है। किसी व्यक्ति के माँ-बाप ने उसका नाम पापक (पापी) रख दिया। बड़ा हुआ तो यह नाम उसे बहुत बुरा लगने लगा। उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की कि भन्ते ! मेरा नाम बदल दें। यह नाम बड़ा अप्रिय है क्योंकि अशुभ, अमांगलिक और मनहूस है। आचार्य ने उसे समझाया कि नाम तो केवल प्रज्ञप्ति के लिए, व्यवहार जगत में पुकारने भर के लिए होता है। नाम बदलने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा। कोई पापक नाम रखकर भी सत्कर्मों से धार्मिक बन सकता है और धार्मिक नाम रहे तो भी दुष्कर्मों से पापी बन सकता है। मुख्य बात कर्म की है। नाम बदलने से क्या होगा ?

पर वह नहीं माना। आग्रह करता ही रहा। तब आचार्य ने कहा—"अर्थ सिद्धि तो कर्म सुधारने से होगी, परन्तु यदि तू नाम भी सुधारना चाहता है तो जा, गाँव-नगर के लोगों को देख और जिसका नाम तुझे मांगलिक लगे, वह मुझे बता। तेरा नाम वैसा ही बदल दिया जायेगा।"

पापक सुन्दर नाम वालों की खोज में निकल पड़ा। घर से बाहर निकलते ही उसे शव-यात्रा के दर्शन हुए। पूछा, कौन मर गया ? लोगों ने बताया—जीवक। पापक सोचने लगा, नाम जीवक, पर मृत्यु का शिकार हो गया ?

आगे बढ़ा तो देखा किसी दीन-हीन दुखियारी स्त्री को मार-पीटकर घर से निकाला जा रहा है। नाम पूछा तो बताया गया—धनपाली। पापक सोचने लगा नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज।

और आगे बढ़ा तो एक राह भूले व्यक्ति को लोगों से राह पूछते पाया। नाम पूछा तो बताया गया—पंथक। पापक फिर सोच में पड़ गया। अरे ! पंथक भी पंथ पूछते हैं ! पंथ भूलते हैं !

पापक वापस लौट आया। अब नाम के प्रति उसका आकर्षण या विकर्षण दूर हो चुका था। बात समझ में आ गई। क्या पड़ा है नाम में ? जीवक भी मरते हैं और अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है और अधनपाली भी। पंथक भी राह भूलते हैं और अपंथक भी। सचमुच नाम की थोथी महत्ता निरर्थक ही है। जनम का अन्धा नाम नयनसुख ! जनम का दुखिया नाम सदासुख! रहे नाम पापक, मेरा क्या बिगड़ता है ? मैं अपना कर्म सुधारूँगा। कर्म ही प्रमुख है। कर्म ही प्रधान है।

जो बात व्यक्ति के नाम पर लागू होती है, वही सम्प्रदाय के नाम पर भी ? न बौद्ध सम्प्रदाय के सभी लोग बोधिसम्पन्न होते हैं और न जैन सम्प्रदाय के सभी आत्मजित्। न ब्राह्मण सम्प्रदाय के सभी ब्रह्मविहारी होते हैं और न इस्लाम के सभी समर्पित और शाँत। जैसे हर व्यक्ति में अच्छाई-बुराई दोनों होती है, वैसे हर सम्प्रदाय में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। किसी भी सम्प्रदाय के न सभी लोग अच्छे हो सकते हैं, न सभी बुरे। परन्तु साम्प्रदायिक आसक्ति के कारण हम अपने सम्प्रदाय के हर व्यक्ति को सज्जन और पराए के हर व्यक्ति को दुर्जन मानने लगते हैं। बौद्ध, जैन, ईसाई या मुस्लिम कहलाने मात्र से कोई व्यक्ति न सज्जन बन जाता है, न दुर्जन। बौद्ध कहलाने वाला व्यक्ति परम पुण्यवान भी हो सकता है और नितान्त पापी भी। यह बात सभी सम्प्रदायों पर समान रूप से लागू होती है। जैसे व्यक्ति की पहचान के लिए उसे कोई नाम दिया जाता है, वैसे ही किसी समुदाय की पहचान के लिए भी। इन नामों से गुणों का कोई सम्बन्ध नहीं। तेल भरे पीपे पर शुद्ध घी का लेबल लगा देने पर भी तेल, तेल ही रहता है, शुद्ध घी नहीं बन जाता। किसी सुन्दर व्यक्ति का नाम कुरूप रख दें तो वह कुरूप और किसी कुरूप को सुन्दर कहने लगें तो वह सुन्दर नहीं बन जाता। फूल को कांटा अथवा कांटे को फूल कहने लगें तो भी फूल-फूल ही रहता है, कांटा-कांटा ही।

कोई व्यक्ति हो तो रंक, पर नाम हो राजन्य। ऐसा व्यक्ति जब तक इस तथ्य को समझता है कि यह राजन्य नाम केवल सम्बोधन हित है, वस्तुतः मैं रंक हूँ, तब तक वह होश में है। परन्तु जिस दिन वह इस नाम का दम्भ सिर पर चढ़ा कर, रंक होते हुए भी, अपने आपको राव राजा मानने और अन्य सभी को हेय दृष्टि से देखने लगता है तो वह प्रमत्त व्यक्ति, लोगों के उपहास

का पात्र हो जाता है। लेकिन जहाँ राजन्य नाम के हजारों-लाखों रंक हों और सबके सब संगठित होकर अपने आपको राव-राजा मानने लगें तथा अन्य सभी लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगें तो पागलों का ऐसा गिरोह केवल उपहासास्पद ही नहीं, बल्कि सारे समाज के लिए खतरे का कारण बन जाता है। ठीक यही दशा हमारी हो जाती है, जब हम जातीयता, साम्प्रदायिकता या राष्ट्रीयता की वारुणी चढ़ाकर प्रमत्त हो उठते हैं और अपने आप को औरों से श्रेष्ठ मानते हुए उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हम भी समाज के लिए खतरे का और उसकी अशान्ति का कारण बन जाते हैं। सच तो यह है कि अपने खतरे और अपनी अशान्ति का कारण बन जाते हैं। सुख-शांति खोकर सच्चे धर्म से दूर पड़ जाते हैं।

धर्म को जाति, वर्ण, वर्ग, समुदाय, सम्प्रदाय, देश, राष्ट्र की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। मानव समाज के किसी भी वर्ग में धर्मवान व्यक्ति हो सकता है। धर्म पर किसी एक वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं हुआ करता। धर्म हमें नेक आदमी बनना सिखाता है। नेक आदमी नेक आदमी है। वह अपने सम्प्रदाय की ही नहीं, प्रत्युत सारे मानव समाज की शोभा है। जो नेक आदमी ही नहीं है, वह नेक हिन्दू या मुसलमान, नेक बौद्ध या जैन, नेक भारतीय या बर्मी, नेक ब्राह्मण या क्षत्रिय कैसे हो सकता है ? और जो नेक आदमी हो गया वह सही माने में धर्मवान हो गया। उसे कोई किसी नाम से पुकारे, क्या फर्क पड़ता है ? गुलाब गुलाब ही रहेगा, नाम बदल देने से उसकी महक में कोई अन्तर नहीं आयेगा। जिस बगिया में खिलेगा, न केवल उसे बल्कि आस पास के सारे वायुमण्डल को अपनी सौरभ से सुरभित करेगा। अतः मुख्य बात है धर्मवान बनने की। नेक इन्सान बनने की। नाम चाहे सो रहे। बगिया चाहे जिस समुदाय की हो। उस पर चाहे जिस नाम का बोर्ड लगा हो। फूल खिलने चाहिए। सौरभ बिखरना चाहिए।

साम्प्रदायिकता और जातीयता का रंगीन चश्मा उतारकर देखें तो ही धर्म का शुद्ध रूप समझ में आता है। अन्यथा अपने सम्प्रदाय का रंग-रोगन, नाम-लेबल ही सारी प्रमुखता ले लेता है। धर्म का सार महत्त्वहीन हो जाता है। धर्म की कसौटी पर किसी व्यक्ति को कसकर देखना हो तो यह नहीं देखेंगे कि वह किस सम्प्रदाय में दीक्षित है ? अथवा किस दार्शनिक मान्यता को मानता है ? अथवा किन रूढ़ियों को पालता है ? वरन् यह देखेंगे कि उसका आचरण

कैसा है ? जीवन-व्यवहार कैसा है ? कुशल है या नहीं ? पावन है या नहीं ? आत्म-मंगलकारी और लोक-मंगलकारी है या नहीं ? यदि है तो धर्मवान ही है। जितना-जितना है, उतना-उतना धर्मवान है। यदि नहीं है तो उस व्यक्ति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। भले वह अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारे, भले वह चाहे जिस संप्रदाय का, चाहे जैसा आकर्षक बिल्ला लगाए फिरे। धर्म का इन सांप्रदायिक बिल्लों से क्या सम्बन्ध ? कोरे नाम से, बिल्लों से हमें क्या मिलने वाला है ? किसी को भी क्या मिलने वाला है ? शराब भरी बोतल पर दूध का लेबल लगा हो तो उसे पीकर हम अपनी हानि ही करेंगे। यदि उसमें पानी भरा हो तो उसे पीकर प्यास भले बुझा लें, परन्तु बलवान नहीं बन सकेंगे। बलवान बनना हो तो निखालिस दूध पीना होगा। बोतल का रंग-रूप या उस पर लगा लेबल चाहे जो हो। इन नाम और लेबलों में क्या पड़ा है ? सांप्रदायिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता का भूत सिर पर सवार होता है तो केवल बोतल और बोतल के नाम और लेबल को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं। दूध गौण हो जाता है। धर्म गौण हो जाता है।

आओ, इन नाम और लेबलों से ऊपर उठकर अपने आचरण सुधारें। वाणी को संयमित रखते हुए झूठ, कड़ुवापन, निंदा और निरर्थक प्रलाप से बचें। शरीर को संयमित रखते हुए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और प्रमादसेवन से बचें। अपनी आजीविका को शुद्ध करें और जन-अहितकारी व्यवसायों से बचें। मन को संयमित रखते हुए उसे वश में रखना सीखें। उसे सतत साव-धान, जागरूक बने रहने का अभ्यास कराएं और प्रतिक्षण घटनेवाली घटना को जैसी है, वैसी, साक्षीभाव से देख सकने का सामर्थ्य बढ़ाकर अन्तस की राग द्वेष और मोह की ग्रन्थियां दूर करें। चित्त को नितांत निर्मल बनाएं। उसे अनंत मैत्री और करुणा से भरें। बिना नाम-लेबल वाले धर्म का यही मंगल-विधान है।

☆

नाम बदल कर क्या मिले ? दुखी रहे दिन रैन।
जब तक मन पर मैल है, नहीं शांति सुख चैन ॥

नाम बदलने में नहीं, कौड़ी लगी छदाम।
नाम बदलना सरल है, कठिन सुधरना काम ॥

नाम भला कोई रहे, सुधर जाय व्यवहार।
बैर छोड़ मैत्री करें, द्वेष छोड़ कर प्यार ॥

हिंदू, मुस्लिम, पारसी, बौद्ध, इसाई, जैन।
मैले मन दुखिया रहें, कहाँ नाम में चैन ?

दुर्गुण से ही दुख मिले, सद्‌गुण से सुखधाम।
जन व्यवहारी नाम से, सधे न कोई काम ॥

लक्ष्मीधर भूखों मरे, यशधर हैं बदनाम।
विद्याधर अनपढ़ रहे, नाम न आए काम ॥

१३. सत्य धर्म

□ □

सत्य-धर्म का उजाला फैलने लगा है। पाप का अंधकार समाप्त होने का समय समीप आ रहा है। इस मंगलमय धर्मबेला का लाभ उठाएं और अपने अन्तर को धर्म के प्रकाश से जगमगालें। अपने भीतर भरा हुआ सारा अंधेरा, सारा कल्मष दूर कर लें।

हमारे अर्न्तमन की अतल गहराइयों में जो राग, द्वेष और मोह समाया हुआ है, उसे दूर करें। राग, द्वेष और मोह ही पाप का अंधकार है। इसे हटाना धर्म का प्रकाश है। हमारा बड़ा पुण्य है कि हमें ऐसी सहज-सरल विधि मिली, जिससे कि हम अपने अन्तर्मन को धोकर सत्य-धर्म की पवित्रता धारण कर सकें। इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाएं।

इस मार्ग पर चलने के लिए यह कदापि अनिवार्य नहीं है कि कोई अपने आपको बौद्ध कहने लगे। बौद्ध कहें या न कहें, परन्तु यदि हम उस महाकारुणिक भगवान तथागत के बताए हुए सहज, सरल तरीके को अपना कर अपने भीतर का राग, द्वेष और मोह का कल्मष दूर कर लें तो निश्चय ही इसमें हमारा लाभ है। हमारा हित-सुख है। फिर हम अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारें, हम कल्याणकारी मार्ग के सच्चे अनुयायी, दुख-निरोधगामिनी प्रतिपदा के सच्चे पथिक और सभी दुखों से छुटकारा पाने के सच्चे अधिकारी हैं ही।

सच्चे धर्म के अभाव में ही हम ऊँच-नीच की दीवारें बनाकर मनुष्य-मनुष्य में विभाजन पैदा कर लेते हैं। सच्चा धर्म इन दीवारों को छोड़कर, हर प्रकार के विभाजन को मिटाता है और एकता के धरातल पर ऐसे मानवीय

समाज का गठन करता है, जहाँ कोई जन्म-जात ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं होता। हाँ, यदि कोई भेद-भाव होता है तो यही कि कौन कितना शीलवान, समाधिवान या प्रज्ञावान है? परन्तु यह विभेद भी स्थायी, शास्वत नहीं है, किसी बाह्य शक्ति द्वारा पूर्व निश्चित या पूर्व निर्धारित नहीं है। हर मनुष्य इस बात की क्षमता रखता है कि वह अपने सद्प्रयत्नों द्वारा अधिक से अधिक शीलवान बनकर कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से बचे, अधिक से अधिक समाधिवान बनकर अपने मन को वश में करे और अधिक से अधिक प्रज्ञावान बनकर राग, द्वेष और मोहरूपी चित्त-मैल से छुटकारा पाए। जो सम नहीं है, उसे समता प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है, पूरी-पूरी सहूलियत है।

शील, समाधि और प्रज्ञा में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने वाला व्यक्ति स्वभावतः मैत्री और करुणा के ब्राह्मी गुणों से परिप्लावित हो उठता है। उसके मन में द्वेष और दौर्मनस्य, अहंकार और घृणा, भय और कायरता नहीं रह सकती। न वह जाति, वर्ण, कुल और धन के कारण अहं भावना का शिकार होता है और न ही इनके अभाव में हीन भावना का। कोई व्यक्ति किसी भी जाति, कुल, वर्ण या सम्प्रदाय में जन्मा हो, धनवान हो या निर्धन, विद्यावान हो या अनपढ़; यदि शील, समाधि और प्रज्ञा में प्रतिष्ठित है तो निश्चय ही पूर्ण मानव है, अतः महान है।

मानवता के इस सही माप दण्ड से अपने आपको मापते रहने का अभ्यास बढ़ाएँ और जब कभी अपनी शील, समाधि और प्रज्ञा में जरा भी कमी देखें तब उसकी पुष्टि के प्रयत्न में लग जायँ और इस प्रकार अपना सच्चा कल्याण साधें।

☆

जागो लोगो जगत के, बीती काली रात।
हुआ उजाला धर्म का, मंगल हुआ प्रभात॥

आओ मानव मानवी, चलें धर्म के पंथ।
धर्म पंथ ही शांति पथ, धर्म पंथ सुख पंथ॥

प्रज्ञा, शील, समाधि की, बहे त्रिवेणी धार।
जन जन का होवे भला, जन जन का उपकार॥

द्वेष और दुर्भाव का, रहे न नाम निशान।
स्नेह और सद्भाव से, भर लें तन-मन-प्राण॥

खंड-खंड हो जाति का, संपति का अभिमान।
शुद्ध साम्य फिर से जगे, हो जन जन कल्याण॥

अहंकार ममकार की, टूटे सभी दिवार।
उमड़े मन में प्यार की, धर्म गंग की धार॥

१४. विपश्यना क्या है ?

□ □

विपश्यना को समझें ! भली-भाँति समझें बिना सही माने में विपश्यी नहीं बन पाएँगे ।

विपश्यना क्या है ?

विपश्यना कोई जादू नहीं, जो हमारे सिर पर चढ़कर बोलने लगे । विपश्यना कोई सम्मोहिनी विद्या नहीं जिससे हम किसी अन्य के द्वारा सम्मोहित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठें । विपश्यना कोई मंत्रविद्या नहीं जो हमें साँप-बिच्छू या भूत-प्रेत की तरह मंत्राए रख सके । विपश्यना कोई अंध-भक्ति या अंध भावावेश नहीं जिसके भावोन्माद में हम उन्मत्त बने रह सकें । विपश्यना कोई भजन, कीर्तन, संगीत या नृत्य नहीं जिसमें भाव-विभोर होकर हम आत्म-विस्मृत बने रह सकें । विपश्यना कोई ऋद्धि या चमत्कार नहीं जिसकी अलौकिकता से चमत्कृत होकर हम आश्चर्य-चकित बने रह सकें । विपश्यना शब्दों के इन्द्रजाल की कोई माया नहीं जिससे किसी के वाणीविलास से हम अपना बुद्धिविलास करते रह सकें । विपश्यना कोई दार्शनिक ऊहापोह नहीं, जिसके सहारे हम दिमागी कसरत करते रहने में अपने आपको मशगूल रख सकें । विपश्यना तत्त्वचिंतकों का कोई अखाड़ा नहीं जहाँ हम वाद-विवादी, तर्क-वितर्की बनकर शब्दों के बाल की खाल खैंचते हुए बौद्धिक खेल खेलने में अपने आपको भरमाए रख सकें । विपश्यना कोई विशिष्ट वेष-भूषा नहीं, जिसे पहनकर हम धर्मवान बन जाने का गुमान कर सकें । विपश्यना कोई रूढ़ि या कर्मकाण्ड नहीं जिसे पूरा करके हम धर्म के नाम पर आत्म-छलना करते रह सकें । विपश्यना कोई ग्रन्थ-पाठ नहीं जिसका पारायण करके हम वैतरणी पार

होने का स्वप्न ले सकें। विपश्यना कोई प्रपत्ति नहीं जिसके द्वारा किसी दृष्य-अदृष्य व्यक्ति के प्रति प्रपन्न होकर हम निश्चिन्त हो सकें, अकर्मण्य बन सकें। विपश्यना किसी काल्पनिक तारक देव-ब्रह्म अथवा किसी दम्भी धर्माचार्य का मिथ्या आश्वासन नहीं जो हमारे लिए डूबते को तिनके का सहारा बन सके।

तो फिर विपश्यना क्या है ?

विपश्यना सत्य की उपासना है। सत्य में जीने का अभ्यास है। सत्य याने यथार्थ। यथार्थ इसी क्षण का होता है। भूतकाल की यादें होती हैं। भविष्यकाल की कामनाएं—कल्पनाएं। वास्तविकता इसी क्षण की होती है। अतः विपश्यना इसी क्षण में जीने का अभ्यास है। यह क्षण जिसमें भूत की कोई जल्पना अथवा भविष्य की कोई कल्पना नहीं। यादों की आकुल आहें अथवा स्वप्नों की व्याकुल चाहें नहीं। आवरण, माया, विपर्यास, भ्रम-भ्रांति-विहीन इस क्षण का जो सत्य है, जैसा भी है उसे ठीक वैसा ही, उसके सही स्वभाव में देखना-समझना यही विपश्यना है। विपश्यना सम्यक् दर्शन है। विपश्यना सम्यक् ज्ञान है।

जो जैसा है, उसे ठीक वैसा ही देख-समझ कर जो आचरण होगा, वही सही, कल्याणकारी सम्यक् आचरण होगा। विपश्यना सम्यक् आचरण है।

विपश्यना पलायन नहीं है, जीवन-विमुखता नहीं है; प्रत्युत जीवन-अभिमुख होकर जीने की शैली है। विपश्यना खुली हवा में ठोस धरती पर कदम रखकर चलने की कला है। विपश्यना बुद्धि-किलोल नहीं, प्रत्युत शुद्ध धर्म-शील को जीवन में उतारने की विधि है। विपश्यना आत्म और सर्व मंगलमयी आचार संहिता है। स्वयं सुख से जीने तथा औरों को सुख से जीने देने की कल्याणकारिणी जीवन पद्धति है। विपश्यना आत्म-मंगल है, सर्व-मंगल है। विपश्यना आत्मोदय है, सर्वोदय है।

विपश्यना आत्म-निर्भरता है। बिना बैसाखियों के स्वयं अपने पांव पर खड़े होने की मंगल विधा है। स्वावलंबन की सर्वोत्कृष्ट साधना है। विपश्यना आत्म-दर्शन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण है। अपने अन्दर का कितना मैल उतरा ? कितना बाकी है ? कितनी निर्मलता आयी ? कितनी बाकी है ? कितने दुर्गुण दूर हुए ? कितने बाकी हैं ? कितने सद्गुण आए ? कितने बाकी हैं ? स्वयं अपना लेखा-जोखा रखते रहने की जागरूकता, विपश्यना है। स्वयं

तस्कर, स्वयं रक्षक । स्वयं रोगी, स्वयं चिकित्सक । अज्ञान से ज्ञान, मैल से निर्मलता, रोग से आरोग्य, दुःख से दुःख-विमुक्ति की ओर बढ़ते रहने का स्व-प्रयास विपश्यना है । विपश्यना सही प्रयास है, सही प्रयत्न है । सम्यक् अभ्यास, सम्यक् व्यायाम है ।

विपश्यना आत्म-संवर है । अपने मन पर मैल न चढ़ने देने का संवर । विपश्यना आत्म निर्जरा है । अपने मन के पुराने मैल उतार फेंकने की निर्जरा । नया मैल कोई दूसरा नहीं, हम स्वयं मोह-विमूढ़ित होकर चढ़ाते रहते हैं । अतः स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक सतत जागरूक रहकर नया मैल न चढ़ने देना विपश्यना है । पुराना मैल किसी अन्य ने नहीं, प्रमादवश स्वयं हमने चढ़ाया है । इसे दूर करने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी है, किसी अन्य की नहीं । अतः अपना पुराना मैल स्वयं उतारते रहना विपश्यना है । धीरज पूर्वक प्रयत्न करते हुए थोड़ा थोड़ा मैल उतारते रहेंगे तो एक दिन पूर्ण निर्मलता प्राप्त हो ही जाएगी । मन निर्मल होगा तो सद्गुणों से भर जाएगा; दूषित मन पर आधारित सारे शारीरिक रोग, सारे दुःख स्वतः दूर हो जाएंगे । विपश्यना आरोग्यवर्धिनी संजीवन औषधि है, चित्तशोधनी धर्म-गंगा है, दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपदा है, मुक्तिदायिनी धर्मवीथी है ।

विपश्यना शील, समाधि में स्थित होकर अन्तर्प्रज्ञा जाग्रत करने का पावन अभ्यास है । शनैः-शनैः प्रज्ञा पुष्ट करने का सत्प्रयास है । स्थितप्रज्ञ होने का शुभायास है । प्रज्ञा याने प्रत्येक प्रत्युत्पन्न स्थिति को प्रकार-प्रकार से जानना । विमोहिनी एकान्त दृष्टि त्यागकर सत्य-दर्शिनी अनेकांत दृष्टि द्वारा यथार्थ का सर्वांगीण निरीक्षण करना, तटस्थ होकर उसके सही स्वभाव का साक्षात्कार करना । यही विपश्यना है । विपश्यना निसंग दर्शन है, निर्लिप्त निरीक्षण है, नितांत अनासक्ति है ।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का सामना होते ही उसे ठीक-ठीक देखे-समझे बिना सहसा अंध प्रतिक्रिया करना दुष्प्रज्ञता है । यही मानसिक क्षोभ है, उत्ते-जना है, विकृति है, असंतुलन है, अशांति है; अतः दुःख है । परन्तु ऐसी हर अवस्था को विवेक पूर्वक देख-समझकर अपने मन की समता बनाए रखना प्रज्ञा है । आगत परिस्थिति का संतुलित चित्त से सामना करना धर्माचरण है, मंगल आचरण है । यही विपश्यना है । उत्पन्न स्थिति को हथियाने या हटाने की हठात्

चेष्टा करने से बचते हुए अपने आपको संतुलित रखना और तदनन्तर जो कुछ करणीय है, शांतिपूर्वक वही करना, यही सम्यक् जीवन-व्यवहार है। यही विपश्यना है। पर को बदलने के प्रयत्न के पूर्व स्व को बदलना ही शुद्ध चित्त का व्यवहार कौशल्य है। यही विपश्यना है। विपश्यना आत्म-संयम है, आत्म-संतुलन है, आत्म-समता है, आत्म-सामायिक है।

विपश्यना आत्म-शुद्धि है, आत्म-विमुक्ति है। विकार-विमुक्त शुद्ध चित्त में मैत्री और करुणा का अजस्र झरना अनायास झरता रहता है। यही मानव जीवन की चरम उपलब्धि है। यही विपश्यना साधना की चरम परिणति है।

विपश्यना की सिद्धि कठिन अवश्य है, पर असंभव नहीं। कष्ट साध्य अवश्य है, पर असाध्य नहीं। विपश्यना स्व-प्रयत्न साध्य है। केवल एक या एकाधिक विपश्यना शिविरों में सम्मिलित हो जाना ही सब कुछ नहीं है। यह तो जीवनभर का अभ्यास है। विपश्यना का जीवन जीते रहना होगा, सतत् सजग, सतत् सचेष्ट, सतत् सयत्न।

अतः अदम्य उत्साह के साथ विपश्यना के इस मंगल-पथ पर आगे बढ़ते चलें। गिरते-पड़ते और फिर खड़े होकर, घुटनों को सहलाकर, कपड़ों को झाड़कर आगे बढ़ते चलें। हर फिसलन अगले कदम के लिए नई दृढ़ता और हर ठोकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नई उमंग और नया उत्साह पैदा करने वाली हो। अतः रुकें नहीं, अटकें नहीं, चलते जायँ। कदम-कदम आगे बढ़ते जायँ। यही मंगल विधान है।

☆

अन्धभक्ति ना धर्म है, नहीं अंध विश्वास।
बिन विवेक श्रद्धा जगे, करे धर्म का नाश॥

मान मोह माया मिटे, सहज सरल ऋजु होय।
क्रोध मिटे कटुता मिटे, सही विपश्यी सोय॥

पल पल जाग्रत ही रहे, शुद्ध सत्य का बोध।
मन की समता स्थिर रहे, होवे दु:ख-निरोध॥

क्षण क्षण मंगल ही जगे, क्षण क्षण सुख ही होय।
क्षण क्षण अपने कर्म पर, सावधान यदि होय॥

पर ही देखे सर्वदा, स्व देखे ना कोय।
सम्यक् दर्शन स्वयं का, विपश्यना है सोय॥

जो ना देखे स्वयं को, वही बाँधता बंध।
जिसने देखा स्वयं को, काट लिए दुख द्वन्द॥

१५. धर्म चक्र

□ □

हमारे भीतर जो प्रतिक्षण लोकचक्र चल रहा है, इससे छुटकारा पाने के लिए धर्मचक्र प्रवर्तित करना होगा। लोकचक्र हमारे समस्त दुःखों का मूल है। धर्मचक्र सभी दुःखों का निरोधक है।

लोकचक्र क्या है? लोकचक्र मोह, मूढ़ता है। लोकचक्र अज्ञान, अविवेक, अविद्या है जिसके कारण हम निरंतर राग और द्वेष की चक्की में पिसते रहते हैं। हमारी छह इन्द्रियाँ—आँख, नाक, कान, जिह्वा, शरीर की त्वचा और मन तथा इन इन्द्रियों के छह विषय—रूप, गंध, शब्द, रस, स्पर्शव्य और कल्पनाएँ; इनका परस्पर संस्पर्श होता रहता है। नाक का गंध से, कान का शब्द से, जिह्वा का रस से, काया का किसी भी स्पर्शव्य पदार्थ से, मन का कल्पना से। संस्पर्श होते ही तत्क्षण हमारे चित्त में कोई संवेदना जागती है। यदि वह संवेदना हमें प्रिय लगी तो हम तत्सम्बन्धी विषय से चिपकाव याने राग पैदा कर लेते हैं। यदि अप्रिय लगी तो दुराव याने द्वेष पैदा कर लेते हैं। चाहे राग उत्पन्न हो अथवा द्वेष, दोनों ही हमारे मन में तनाव-खिचाव और उत्तेजना पैदा करते हैं। इससे समता नष्ट होती है। विषमता आरम्भ होती है। दुक्ख संधि होती है। दुक्ख आरम्भ होता है। यही लोकचक्र का आरम्भ हो जाना है।

नासमझी से हम जो उत्तेजना पैदा कर लेते हैं वह गहरी आसक्तियों में परिवर्तित होकर दूषित भव-चक्र के रूप में बढ़ती है और हमें व्याकुल, व्यथित बनाती और हमारा दुख संसार बढ़ाती है। इसी भवचक्र को काटने के लिए हमारे भीतर धर्मचक्र जागते रहना बहुत आवश्यक है। यदि

धर्मचक्र जागता है तो विवेक, विद्या, और होश जागता है। जैसे ही किसी इन्द्रिय और उसके विषय के संस्पर्श से चित्त में कोई संवेदना पैदा हो, प्रिय या अप्रिय, सुखद या दुखद—वैसे ही पागलों की तरह उस विषय के प्रति राग-रंजित और द्वेष-दूषित होने के बजाय उसके नश्वर-निस्सार स्वभाव को समझकर प्रज्ञा जागे, अनासक्तिभाव जागे। इसी से लोकचक्र का प्रवर्तन रुकता है। उसका विस्तार नहीं हो पाता। यही धर्म-चक्र-प्रवर्तन है। धर्मचक्र-प्रवर्तन का यह प्रत्यक्ष लाभ है। विपश्यना साधना के सतत् अभ्यास द्वारा अपने अन्तर्मन में अनुभूत होने वाली प्रत्येक संवेदना को जानें और जानकर उसमें उलझें नहीं। तटस्थ बने रहें। यों धर्मचक्र प्रवर्तित रखें।

धर्मचक्र प्रवर्तित रखने में हमारा मंगल-कल्याण है।

☆

राग सदृश ना रोग है, द्वेष सदृश ना दोष।
मोह सदृश ना मूढ़ता, धर्म सदृश ना होश॥

राग द्वेष की मोह की, जब तक मन में खान।
तब तक सुख का, शांति का, जरा न नाम निशान॥

तीन बात बंधन बंधे, राग द्वेष अभिमान।
तीन बात बंधन खुले, शील समाधि, ज्ञान॥

धर्मचक्र चालित करें, प्रज्ञा लेयं जगाय।
जिससे सारी गंदगी, मन पर की हट जाय॥

सुख दुख आते ही रहें, ज्यों आवें दिन रैन।
तू क्यूं खोवे बावला! अपने मन की चैन॥

भोक्ता बन कर भोगते, बंधन बंधते जायं।
द्रष्टा बन कर देखते, बंधन खुलते जायं॥

१६. सम्यक् धर्म

□ □

सम्यक् माने ठीक, सही, यथार्थ, सत्य । अतः सम्यक् धर्म माने सत्य धर्म, सत् धर्म, सद्धर्म । ऐसा धर्म जिसमें मिथ्यात्व को कहीं स्थान नहीं, जिसका कल्पना से कोई वास्ता नहीं । यदि कोई उपदेशक किसी मिथ्या बात को, मिथ्या ही क्यों सही बात को भी अंधश्रद्धा से महज कल्पना के स्तर पर मान लेने का आग्रह करे तो समझो वह सम्यक् नहीं, मिथ्या धर्म का उपदेश कर रहा।

सम्यक् माने शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल निर्दोष, निष्कलुष । अतः सम्यक् धर्म माने शुद्ध धर्म, ऐसा जिसमें पाप के लिए किंचित भी स्थान नहीं । जिसका जोर जबरदस्ती से कोई वास्ता नहीं । धर्म निर्मल होता है तो सहज स्वीकार्य होता है, क्योंकि न्याय संगत होता है, युक्तिसंगत होता है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी बात ननु-नच किए बिना, तर्क-वितर्क किए बिना, अक्ल की दखल दिए बिना आंख मूँदकर इसलिए मान लो कि न मानने पर कोई अदृश्य सत्ता तुम्हें असह्य नारकीय यंत्रणा का दंड देगी और मान लेने पर प्रसन्न होकर तुम्हारे सारे पाप भुला देगी और स्वर्गीय सुख का वरदान देगी तो समझो वह सम्यक् नहीं, मिथ्या धर्म की छलना है ।

सम्यक् माने अक्षत्, अखंड, अविकल, पूर्ण । सम्यक् धर्म माने परिपूर्ण परिपक्व धर्म । धर्म की परिपूर्णता, परिपक्वता उसे पूरी तरह धारण कर लेने में है । महज पठन-पाठन, चर्चा-परिचर्चा धर्म की अविकल्प परिपूर्णता नहीं है । बुद्धि-क्रीड़ा और बुद्धि-रंजन धर्म की पूर्ण परिपक्वता नहीं है । पढ़े-सुने धर्म का चिंतन-मनन करके उसे सम्यक् रूपेण धारण कर लेना, जीवन का अंग बना लेना, सहज स्वभाव बना लेना ही उसकी परिपूर्णता है, परिपक्वता है । यही

धर्म का सम्यक्त्व है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी वाणी को सुन लेने मात्र से अथवा अमुक धर्म ग्रन्थ को पढ़ लेने मात्र से अथवा अमुक दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने मात्र से तुम्हारी मुक्ति हो जायगी, धर्म धारण न भी करो तो भी कोई अदृश्य सत्ता इसी बात पर तुम पर रीझ कर तुम्हारे सारे पाप धो देगी, तो समझो फिर धर्म सम्यक् नहीं, मिथ्या है, मायावी है।

सत्य, स्वच्छ धर्म जीवन में उतरना ही चाहिए—तो ही सम्यक् है, कल्याणप्रद है अन्यथा भ्रामक है, दुखदायी है। जिस किसी को धर्म के सम्यक् स्वरूप का जरा भी बोध हो जाता है वह सदैव इस भ्रांति से बचने का प्रयत्न करता है। धर्म को रूढ़ि पालन और बुद्धि किलोल का विषय नहीं बनने देता। सारा बल धारण करने के अभ्यास में ही लगाता है। इस सम्बन्ध में हमारे देश की एक बहुत उज्ज्वल पुरातन कथा है। कुरु प्रदेश का एक बालक, राजकुमार युधिष्ठिर। अन्य राजकुमारों के साथ उसे भी गुरु से दो छोटे-छोटे वाक्यों में धर्म के उपदेश मिले। औरों ने उन वाक्यों को रट कर गुरु महाराज की शाबासी शीघ्र सहज हासिल कर ली। पर उस बालक के लिए तो सम्यक् धर्म ही सही धर्म था। वह उसे धारण करने के अभ्यास में दिन बिताने लगा और इस कारण नासमझ गुरु के कोप का भाजन हुआ। दण्ड मिला सम्यक्मार्गी सुबोध राजकुमार को, जबकि दोषी था दुर्बोध आचार्य। पर बेचारा आचार्य भी क्या करता? रूढ़ियों का, परम्पराओं का शिकार था। छिलकों को धर्म मानने का आदी था। उसके लिए तो धर्म के ये छिलके ही अधिक मूल्यवान थे। इन राजकुमारों को धर्म के कुछ बोल सिखा दूंगा। वे रट कर याद कर लेंगे। घर पर माता-पिता पूछेंगे—पाठशाला में क्या पढ़ा? तो विद्यार्थी रटे हुए उन धर्म-वाक्यों को तोते की तरह सुना देंगे। मां बाप खुशी में फूल उठेंगे। आचार्य का श्रम सफल माना जाएगा। वह पुरस्कृत होगा। आजीविका सुगमतापूर्वक चलती रहेगी। धर्म पढ़ने-पढ़ाने का यही मूल्य था उसकी नजरों में। धर्म का यह ओछा और छिछला मूल्यांकन न जाने कब से चला आ रहा है। आज भी कायम है और लगता है भविष्य में भी चलता ही रहेगा। पढ़ना, सुनना व याद कर लेने का काम सरल है, पर जीवन में उतारने का काम कठिन है। अत्यन्त कठिन है। इस कठिन को कोई नहीं करना चाहता। यही कारण है कि हम धर्म के नाम पर अधिकतर

मिथ्याधर्म के ही शिकार बने रहते हैं। सम्यक् धर्म हमसे कोसों दूर रहता है। समीप आए भी तो कैसे? जब मिथ्या को ही सम्यक् मान बैठते हैं तो मिथ्या प्रमुख हो जाता है, सम्यक् गौण। अतः सम्यक् को समीप लाने का कोई प्रयत्न भी तो नहीं करते।

काया, वाणी और चित्त के सभी कर्मों में धर्म समा जाय तो ही सम्यक् हो। यदि इसी को जीवन का चरम लक्ष्य मान कर अभ्यास में जुट जायँ तो जितनी-जितनी सफलता मिले, उतना-उतना लाभ हो। पूरी सफलता मिल जाय तो निस्संदेह पूरा लाभ हो। सर्वांगीण, सम्यक् धर्म को जीवन में उतारने का अभ्यास करते रहने में हमारा सही मंगल समाया हुआ है। बिना किसी जाति या सम्प्रदाय के भेदभाव के, सब का सही मंगल इसी में समाया हुआ है। देखें, धर्म का सर्वांगीण सम्यक् स्वरूप क्या है?

हमारी वाणी सम्यक् हो। वाणी सम्यक् तब होती है जबकि हम झूठ-कपट, गाली-गलौज, कटु-कठोर, चुगली-निन्दा और ऊल-जलूल बकवास भरे वचनों से वस्तुतः छुटकारा पा लेते हैं।

हमारे शारीरिक कर्म सम्यक् हों। शारीरिक कर्म सम्यक् तब होते हैं जबकि हम हिंसा-हत्या, चोरी-जारी, नशे-पते आदि के दुष्कर्मों से यथार्थतः मुँह मोड़ लेते हैं।

हमारी आजीविका सम्यक् हो। आजीविका तब सम्यक् होती है जबकि हम अपने जीवनयापन के साधनों को वास्तविकता के स्तर पर शुद्ध करते हुए छल-छद्म, जालसाजी, तस्करी-चोरी को सर्वथा त्यागते हैं और ऐसा कोई व्यवसाय नहीं करते जिससे कि धन-संचय की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अन्य अनेकों को हानि पहुँचाएं।

हमारे प्रयत्न सम्यक् हों। प्रयत्न तब सम्यक् होते हैं, जबकि हर प्रयत्न सचमुच एक ऐसा व्यायाम बन जाता है जिससे कि हमारा मन दुर्गुण-विपन्न और सद्गुण संपन्न हो।

हमारी जागरूकता सम्यक् हो। जागरूकता तब सम्यक् होती है जबकि हम अपने कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों के प्रति सजग सचेत रहने के वास्तविक अभ्यास में जुट जाते हैं।

हमारी समाधि सम्यक् हो। समाधि तब सम्यक् होती है जबकि सतत

अभ्यास द्वारा हम अपने चित्त को किसी सत्य आलंबन के सहारे देर तक सजग, समाहित रख सकने में सचमुच सफल होते हैं।

हमारे संकल्प सम्यक् हों। संकल्प तब सम्यक् होते हैं जबकि हम अपनी चित्तधारा पर से हिंसा, क्रोध, द्वेष, दौर्मनस्य की दुर्वृत्तियां वास्तव में दूर कर देते हैं।

हमारा दर्शन सम्यक् हो। दर्शन तब सम्यक् होता है जबकि हम बुद्धि-किलोल से छुटकारा पाकर परम सत्य का यथार्थतः दर्शन कर लेते हैं।

दर्शन माने फिलास्फी नहीं समझें। अन्यथा किसी मत-मतान्तर की फिलास्फी के सिद्धान्तों का चिंतन-मनन ही हमारे लिए सम्यक् दर्शन बन बैठेगा और इस प्रकार मिथ्या दर्शन में उलझे रह जायेंगे। दर्शन माने साक्षात्कार। परन्तु साक्षात्कार का भी अर्थ यह नहीं कि बार-बार के निदिध्यास द्वारा यथार्थ से सर्वथा दूर किसी कल्पना प्रसूत रंग-रोशनी रूप-आकृति को बन्द आंखों से देख कर इस मिथ्यादर्शन को ही सम्यक् दर्शन मानने लगें। दर्शन माने सत्य की स्वानुभूति। अपने ही भीतर स्थूल सत्य से आरम्भ करके सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सत्यों की स्वानुभूति करते हुए जब परम सत्य की स्वानुभूति होती है तो ही दर्शन सम्यक् होता है। सम्यक् दर्शन के इस अनुभूति जन्य धरातल पर जो ज्ञान होता है वही ज्ञान सम्यक् है। अन्यथा बुद्धि किलोल जन्य मिथ्या ज्ञान है। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों की उपलब्धि साथ-साथ होती है। सम्यक् दर्शन हो जाय तो सम्यक्ज्ञान, सम्यक्बोध हो ही जाता है जो कि अभ्यास जन्य धर्म का चरमोत्कर्ष है।

सतत् अभ्यास करते-करते सर्वांगीण धर्म को जब हम सम्यक् बनाते हैं, परम परिशुद्ध करते हैं, तो जीवन-व्यवहार में स्वभावतः सर्वतोमुखी उन्नति होती है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में से अशुद्धियां दूर होती हैं। जीवन कृतकृत्य होता है, धन्य होता है। त्रिविध आचरण स्वतः सुधरते जाते हैं। चारित्र्य सम्यक् होता जाता है। यदि ऐसा न हो और केवल किसी सम्प्रदाय विशेष की रूढ़ि परम्पराओं का पालन करते हुए अपने आपको सम्यक् चारित्र्यवान् कहें तो धोखे में पड़ते हैं। चित्त विकारों से मुक्त हो नहीं, व्यवहार में सौम्यता आए नहीं, पारस्परिक बर्ताव में शुद्धि आए नहीं, फिर भी सम्यक् चारित्र्य कहें तो मिथ्या को ही सम्यक् मान लेने की भ्रांति होगी।

धर्म की तीन मंजिलें हैं—परियत्ति, पटिपत्ति, पटिवेध । परियत्ति माने धर्म के शास्त्रीय ज्ञान की निपुणता । पटिपत्ति माने धर्मपंथ का स्वयं प्रतिपादन । पटिवेध माने मार्ग का अनुशीलन करते हुए, सारी विघ्न-बाधाओं का भेदन कर धर्म के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेना । धर्म का परियत्ति अंग निरर्थक नहीं हैं । परन्तु वह सार्थक भी तभी होता है जबकि उससे आगे प्रतिपत्ति और प्रतिवेधन का प्रयोग कर लिया जाय ।

धर्म महज शास्त्रीय ज्ञान में नहीं, आचरण में है । धर्म सैद्धान्तिक मान्यता में नहीं, सिद्धान्तों का जीवन जीने में है । धर्म आचरण में उतरे तो ही परिपूर्ण होता है । सम्यक् होता है । अन्यथा मिथ्या ही मिथ्या रहता है । चाहे उसे बौद्ध कहें या जैन, ईसाई कहें या हिन्दू, मुस्लिम कहें या यहूदी, पारसी कहें या सिक्ख या और कुछ ।

किसी भी सम्प्रदाय के धर्म गुरु से पूछ देखें । वह यही कहेगा कि धर्म की उपरोक्त बातें याने काया, वाणी और चित्त के कर्मों को शुद्ध करने की बातें हमारे धर्म की ही हैं । कोई नहीं कहेगा कि ये हमारे धर्म के बाहर की बातें हैं । तो यह बात सब के धर्म की हुई । सार्वजनीन हुई । संप्रदाय-विशेष की नहीं । परन्तु साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि सभी संप्रदायों में ऐसे लोगों की संख्या ही अधिक है जो कि अपने आपको धर्मवान तो समझते हैं परन्तु धर्म के सार को धारण नहीं करते । धर्म को जीवन में नहीं उतारते । अतः यह रोग सार्वजनीन है, विश्वव्यापी है । किसी एक संप्रदायविशेष का नहीं ।

हम धर्म का जीवन नहीं जी रहे हैं यह जितना बुरा है उससे हजारों गुना बुरा यह भ्रम है कि वस्तुतः हम धर्म का ही जीवन जी रहे हैं । विचित्र विडम्बना है । रोगी होते हुए भी अपने आप को निरोग मान रहे हैं । अजीब नशा छाया है हम पर । सब संप्रदाय वालों पर एकसा नशा । सभी कुओं में भांग पड़ी है । किसी भी संप्रदाय के हों, अपने-अपने संप्रदाय की किसी विशिष्ट वेश-भूषा को धारण कर लें अथवा अपनी परम्परा का कोई रूढ़ कर्मकांड पूरा कर लें अथवा अपने संप्रदाय के शास्त्रों द्वारा उद्घोषित किसी दार्शनिक सिद्धान्त की मान्यता अपने मन में कट्टरता से भर लें और महज इसी से समझ बैठें कि हम धर्म का जीवन जी रहे हैं; भले हमारे दैनिक जीवन में धर्म का नामोनिशान न हो । धर्म के नाम पर कितना गहरा नशा है यह । पश्चिम

के किसी समझदार आदमी ने कहा है धर्म अफीम का नशा है। जो धर्म नहीं है उसे धर्म मानकर जीने में अफीम का ही नहीं, बल्कि उससे भी बड़ा नशा है। अफीम का नशा तो समय पाकर उतर जाता है, परन्तु इस मिथ्या धर्म के नशे में डूबा हुआ व्यक्ति सारा जीवन बेहोशी में बिता देता है। नशा उतरने का नाम नहीं लेता। रोज ब रोज तेज हुए जाता है।

अपना तथा सबका सही मंगल चाहने वाले व्यक्ति को इस नशीले खतरे से बचना चाहिए और यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि धर्म की चरम परिणति, उसका अन्तिम लक्ष्य, उसका एकमात्र उद्देश्य उसे जीवन में उतारने में है। जो धर्म पढ़ा-सुना गया, सोचा-समझा गया; पर धारण नहीं किया गया वह सम्यक् नहीं है, परिपूर्ण नहीं है, अभी कच्चा है। कच्चे घड़े के सहारे नदी पार करनी खतरनाक है। उसे पकाएं। हजार कठिनाइयों के बावजूद भी उसे धारण करने के अभ्यास को ही महत्त्व दें। कहीं ऐसा न हो जाय कि अभ्यास के रास्ते कोई मील का पत्थर हमें रोक ले, कोई मृग-मरीचिका हमें भ्रांत कर दे और हमारी प्रगति रुक जाय। जिस धर्म को हम धर्म मान रहे हैं वह सम्यक् है अथवा मिथ्या, इस हकीकत को बार-बार परखते रहें और परखने का एकमात्र तरीका यही है कि धर्म जीवन में उतर रहा है या नहीं। हमारे दैनिक व्यवहार में आ रहा है या नहीं? हमारा भला इसी में है कि जब हम देखें हमारे जीवन में धर्म नहीं उतर रहा है तो भले ही हम ऐसी वेश-भूषा धारण करते हैं या वैसी, ऐसे क्रियाकांड करते हैं या वैसे, इस संप्रदाय में दीक्षित हैं या उसमें, ऐसी दार्शनिक मान्यता मानते हैं या वैसी, आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या अनीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी; हम इस बात को स्वीकारते हुए जीएं कि हम धर्मवान नहीं हैं, कदापि नहीं हैं। जीवन में उतरे तो ही धर्म है, वरना धोखा है। हम महज तर्क, श्रद्धा, रूढ़ि-पालन, और दार्शनिक मान्यता के स्तर पर ही धर्म को स्वीकार करके न रह जायँ, बल्कि वास्तविकता के स्तर पर उसे जीवन में उतारें—तो ही धर्म सम्यक् है, तो ही कल्याणकारी है, तो ही मंगलकारी है।

☆

जीवन में उतरे बिना, धर्म न सम्यक् होय।
काया, वाणी, चित्त के, कर्म न निर्मल होय॥

बोले गर्व गुमान से, मेरा धर्म महान।
सम्प्रदाय को समझता, धर्म मूढ़ नादान॥

रूढ़ि और पाखंड के, मिथ्या सारे कर्म।
बिना कर्म सम्यक् हुए, सम्यक् होय न धर्म॥

भिन्न मतों की मान्यता, दर्शन के सिद्धान्त।
धर्म छुटा, उलझन बढ़ी, सभी हो गए भ्रान्त॥

तत्त्वों के व्याख्यान में, गई जिन्दगी बीत।
कोरे बुद्धि किलोल से, हुआ न चित्त पुनीत॥

सम्यक् दर्शन के बिना, सम्यक् ज्ञान न होय।
बिन दर्शन बिन ज्ञान के, सम्यक् चरित न होय॥

१७ सत्य ही धर्म है

□ □

सत्य के अतिरिक्त धर्म की और क्या व्याख्या हो सकती है ? सत्य ही धर्म है, असत्य अधर्म । यहाँ सत्य का अर्थ केवल वाणी की सच्चाई ही नहीं, बल्कि धर्म शब्द की भाँति इसका भी वही व्यापक अर्थ है—याने स्वभाव, गुण, नियम, विधान । प्रकृति के अपने गुण-स्वभाव हैं, नियम-विधान हैं । उन नियम-विधानों की, उन धर्मों की सच्चाई से सारा सजीव, निर्जीव चराचर विश्व बंधा हुआ है । इस व्यापक अर्थ में सत्य और धर्म पर्यायवाची शब्द हैं ।

प्रकृति के स्वभाव की सच्चाई हम जितनी-जितनी समझें और स्वीकारें उतने-उतने धर्म को ही स्वीकारते हैं । सच्चाई तीन प्रकार से स्वीकारी जाती है । स्वीकारने का पहला कदम श्रद्धा की भूमिका से आरम्भ होता है । किसी बुद्ध ने, ज्ञानी ने अपने बोधि-ज्ञान द्वारा मिली इस सच्चाई को शब्दों में व्यक्त किया । हमारे मन में उस महापुरुष के प्रति श्रद्धा जागी और हमने उसके शब्दों को स्वीकार किया । यह शब्द-सत्य को स्वीकारना हुआ । परन्तु शब्द सत्य में सच्चाई की परिपूर्णता नहीं हुआ करती । जब किसी अनुभूतिजन्य ज्ञान को शब्दों पर उतारा जाता है, याने जब कोई सत्यद्रष्टा, ऋतद्रष्टा ऋषि शब्द स्रष्टा बनता है तो सत्य का कुछ अंश नष्ट हो ही जाता है । इसलिए शब्दसत्य आंशिक सत्य ही होता है । क्योंकि शब्द और भाषा की अपनी सीमाएँ हैं । उन्नत से उन्नत भाषा भी आन्तरिक अनुभूतियों को स्पष्टतया व्यक्त कर सकने में असमर्थ रहती है और फिर सत्य शोधकों की कुछ अनुभूतियाँ ऐसी हैं जो वर्णनातीत होती हैं । शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । उनके बारे में नेति-नेति ही कहा जाता है । कहने वाला केवल इतना ही कहकर रह जाता है कि ऐसा तो नहीं है, ऐसा तो नहीं ही है । तीन

आयामों को देखने-समझने वाले लोगों को चौथे आयाम की जानकारी किन शब्दों में कराई जाय ? इन्द्रियातीत अवस्था की अनुभूति इन्द्रियों के माध्यम से कैसे समझाई जाय ? समझाने की कोशिश करें तो कोई समझे भी कैसे ? अत: हर समझदार आदमी के लिए इन अनुभवों की चर्चा करते हुए नकारने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता । ऐसा परम सत्य कभी शब्द-सत्य बन ही नहीं सकता ।

इन्द्रियातीत अनुभूति के लिए तो शब्द असमर्थ हैं ही, परन्तु ऐन्द्रिय अनुभूतियों को भी शब्दों में ठीक-ठीक नहीं ढाला जा सकता । सूक्ष्मतर आन्तरिक अनुभूतियाँ अधिकतर गूंगे का गुड़ ही बनी रह जाती हैं । व्यक्त करने के सभी प्रयत्न अधूरे रहते हैं । भाषा की सीमाओं के अतिरिक्त बोलने व लिखने वाले की और उससे भी अधिक सुनने व पढ़ने वाले की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं जो कि शब्द-सत्य के पूर्ण सत्य बनने में बाधक होती हैं । कहने वाला जो कहना चाहता है उसे ठीक-ठीक कह न सके और जो कहे वह जिस अर्थ में कहा गया है, सुनने वाला उस अर्थ में समझ न सके, यही शब्द सत्य की अपूर्णता है ।

परन्तु फिर भी अनुभूतिजन्य सत्य को शब्दों में उतारने के प्रयत्न होते ही हैं । कुछ अंशों में उनका लाभ हुआ है और कुछ अंशों में हानि भी । जहाँ उन्हें खुले दिमाग से अपनाया गया, वहाँ लाभ हुआ । परन्तु जहाँ उन्हें पूर्ण सत्य मानने की हठधर्मी हुई वहाँ साम्प्रदायिक अंधविश्वास और अंध-मान्यताओं को बढ़ावा मिला । लोगों के दिमाग पर ताले लगे । सत्य अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति रुकी ।

परन्तु आखिर मानव तो मनु पुत्र है न ? मन से उपजा है । मनन-चिंतन करके ही किसी सत्य को स्वीकारना उसका जन्मजात सहज स्वभाव है । साम्प्रदायिक नेताओं द्वारा उसके चिंतन-मनन की प्रतिभा को कुंठित कर उसे जड़ भरत बनाए रखने के हजार प्रयत्नों के बावजूद भी मानव समाज का एक प्रबुद्ध वर्ग शब्द सत्य को जाँचने-परखने, बुद्धि के तराजू पर तोलने, तर्क की कसौटी पर कसने और, युक्तियों के हथौड़ों की चोट लगाने का काम करता ही रहा है । इसी से सत्य का एक दूसरा स्वरूप उजागर हुआ जिसे अनुमान सत्य या बौद्धिक सत्य कहा गया । हर सच्चाई को बुद्धि की भट्ठी में तपाया जाना चाहिए । उसकी जाँच में दिमाग लगाया जाना चाहिए । युक्तियुक्त और

तर्कसंगत लगे तो ही स्वीकारना चाहिए। इसी नीति के कारण सत्य के अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति आरम्भ हुई। अंधविश्वासों, अंध-मान्यताओं और दकियानूसी साम्प्रदायिक कठमुल्लेपन को गहरी चोटें लगीं। मानवीय विकास का रास्ता खुला। अंधश्रद्धा और भक्तिभावावेश के घुटन भरे माहौल से और शब्दसत्य को सम्पूर्ण सत्य मानने के दुराग्रह भरे घने कुहरे से बाहर निकलने में सफलता मिली। किसी बात को आँख मूँदकर मान लेने की आदत छूटी। ऐसा क्यों ? यह जानने की उत्सुकता बढ़ी।

परन्तु जिस प्रकार शब्दसत्य की मान्यता अधिकत: अंधविश्वासों से दूषित हो उठी, उसी प्रकार अनुमान याने बौद्धिक सत्य की मान्यता भी बहुधा शुष्क तर्क-वितर्क के घने जंगल में ही भटक कर रह गई। वैसे भी इन दोनों से याने शब्द और अनुमान से सत्य का आभास ही हो सकता है, अनुभूति नहीं। सत्याभास याने धर्माभास। और जहाँ धर्माभास होता है वहाँ धर्म के नाम पर भ्रांति फैलने की ही आशंका रहती है। सत्य की अनुभूति ही धर्म की सही अनुभूति है। अत: इन दोनों के आगे की कल्याणकारी मंजिल प्रत्यक्ष सत्य की मंजिल है। प्रत्यक्ष सत्य याने स्वानुभूतियों के स्तर पर प्रगट हुआ सत्य। आध्यात्मिक सत्य के सूक्ष्म आभ्यान्तरिक अनुसंधान की यही सही यात्रा है। यही धर्म की गहरी खोज है। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों द्वारा जितना-जितना सत्यांश प्रकट होता है मानव उतना-उतना धर्म-पथ पर आगे बढ़ता है।

परन्तु अनुभूतियों के स्तर पर सत्य धर्म का स्वयं अन्वेषण कर उसे स्वी-कारना कठिन काम है। जबकि अंधविश्वास के स्तर पर किसी पराए कथन को स्वीकार कर लेना सरल है। इसीलिए मानव जाति के लम्बे इतिहास में अधिकतर शब्दसत्य के आधार पर अंधविश्वासी सम्प्रदाय ही पनपे। कुछ थोड़े से लोगों ने अंधविश्वास को ठुकराकर बुद्धि का प्रयोग किया। परन्तु वे भी बहुधा अनुभूति के क्षेत्र में शून्य रह जाने के कारण बौद्धिक मत-मतान्तरों वाले सम्प्रदायों के प्रणेता अथवा अनुयायी ही होकर रह गए। जहाँ आन्तरिक अनु-भूति होती है वहाँ साम्प्रदायिक भेद-भाव के लिए गुंजाइश कम रहती है। अन्यथा शब्दों और बौद्धिक तर्क-वितर्कों की भिन्नता विभिन्न सम्प्रदायों का पोषण करती है। आन्तरिक अनुभूतियाँ भी निष्पक्ष सत्य शोधन हेतु हों तो ही शुद्ध धर्म को बल देती हैं अन्यथा पूर्वाग्रह पूर्ण हों तो ये भी मत-मतांतरों को बढ़ावा देंगी।

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भिन्न-भिन्न कैसे होगा ? समग्र प्रकृति का विधान एक ही है अलग-अलग कैसे होगा ? परन्तु किसी की प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा हुआ यह विधान जब वाणी का चोला पहनता है तो ये चोले अवश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भाषा, शब्द, वक्ता भिन्न-भिन्न होने के कारण सत्य भी भिन्न-भिन्न लगने लगते हैं। जब कोई भक्त किसी महापुरुष द्वारा अनुभूत सत्य को स्वयं अपनी अनुभूति पर तो उतारता नहीं, परन्तु अंधश्रद्धाजन्य भावावेश के स्तर पर उसकी वाणी को स्वीकृति देकर ही अपने आपको धन्य मान बैठता है तो उस वाणी और उन शब्दों के साथ उसका गहरा चिपकाव हो जाना स्वाभाविक है। उसे वे सब्द ही सत्य नजर आते हैं, बाकी सब मिथ्या। यहीं से सम्प्रदाय की बुनियाद पड़नी शुरू होती है। सत्य का साक्षात्कार करने वाला किसी सम्प्रदाय से कैसे बँधेगा ? परन्तु शब्दों में लोट-पलोट लगाने वाला सम्प्रदाय का पोषण करता है। पहले के लिए भाषा महज माध्यम है, अतः गौण है। परन्तु दूसरे के लिए भाषा और शब्द ही प्रमुख हैं।

यदि मैं हिन्दू सम्प्रदाय में हूँ तो "यम-नियम" शब्द का प्रयोग हुआ देखकर प्रसन्न हो उठता हूँ; बौद्ध हूँ तो "पंचशील", जैन हूँ तो "अणुव्रत" और ईसाई हूँ तो "टेन कमांडमेंट्स" के शब्दों को सुनकर गर्व से छाती फुला लेता हूँ। लेकिन धर्म की वास्तविक सच्चाई जीवन में उतरी या नहीं, शील-सदाचार जीवन का अंग बना या नहीं, अपनी संकीर्ण साम्प्रदायिक वृत्ति के कारण मैं इसे कतई महत्त्व नहीं देता। केवल शब्दों को ही 'मेरा धर्म' 'तेरा धर्म' कह कर अच्छे-बुरे की संज्ञा देता रहता हूँ।

"सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य" इन शब्दों का प्रयोग किसी भी जैन को कर्णप्रिय लगता है। इसी प्रकार "शील, समाधि, प्रज्ञा" किसी बौद्ध को, "स्थितप्रज्ञ, अनासक्त" किसी गीता भक्त को और "होली इनडिफरेंस" का प्रयोग किसी ईसाई को। वैसे ही किसी को धर्म शब्द सुनते ही लगता है मानो कानों में चाँदी की घंटियाँ बज रही हों और उसी व्यक्ति को 'धम्म' शब्द सुनते ही लगता है मानो छाती पर मूसलों के धमाधम्म धमाके लग रहे हों। इसके ठीक विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति को "धम्म" शब्द में देव-दुन्दुभी जैसा श्रुति-मधुर मंगल-घोष सुन पड़ता है और 'धर्म' शब्द उसे काँटे की तरह चुभता है। कैसी आसक्ति पैदा कर ली है हमने शब्दों के साथ। इसी कारण

इनके अर्थों की ओर ध्यान नहीं जाता और ध्यान चला भी जाय तो वह भी उतना ही बेमाने है जबकि अर्थ जीवन में उतरते नहीं। सम्प्रदाय और धर्म में यही मौलिक भेद है। सम्प्रदाय शब्दों को महत्त्व देता है और धर्म अर्थों को तथा उन्हें धारण करने को। हम अपने आपको हजार सम्प्रदाय-विहीन कहें, परन्तु सच्चाई यही है कि हमारे लिए सम्प्रदाय प्रमुख हो गए हैं; इसीलिए शब्द प्रमुख हो उठे हैं, अर्थ गौण। प्रत्यक्ष अनुभूति तो लुप्तप्राय हो गयी है। जिसे देखो शब्द सत्य के पीछे पागल है। बहुत थोड़े हैं जो अनुमान सत्य की ओर बढ़ते हैं। प्रत्यक्ष सत्य तक जाने की किसी को फुर्सत ही नहीं और कोई उसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करता।

हम हिन्दुओं की बाँछें खिल जाती हैं जबकि कोई गैर हिन्दू गीता का कोई श्लोक अपने भाषण में उद्धृत करता है। इसी प्रकार हम बौद्धों की व जैनियों की हृदयतन्त्री के तार बजने लगते हैं जबकि कोई अबौद्ध या अजैनी धम्मपद या महावीर वाणी को अपने भाषणों में उद्धृत करता है। कैसा चिप-काव पैदा कर लिया है हमने अपने-अपने सम्प्रदाय की वाणियों से। जिस परम्परा और परिवेश में हम जन्मे और पले हैं उसके धर्म-ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा, आदर और झुकाव होने में कोई दोष नहीं, क्योंकि उन्हीं से हम प्रेरणा और मार्ग-दर्शन पाते हैं। परन्तु दोष आसक्ति से है, चिपकाव से है। यह हमारे चिपकाव का ही परिणाम है कि यदि वही सच्चाई कोई अन्य सम्प्रदाय वाला अपनी भाषा में बोले और अपने महापुरुष द्वारा कही हुई बताए तो हमारा मन कितना चिड़चिड़ा उठता है ? सच्चाई पराई-सी लगती है। इस चिपकाव का मुख्य कारण यही है कि हमारी श्रद्धा बांझ रह गयी। उसका कोई फल नहीं हुआ। हमने अपने धर्म ग्रन्थों की सच्चाई को महज श्रद्धा तक ही सीमित रखा। स्वानुभूतियों से उसका स्वाद चखा नहीं। अतः हमारे लिए तो सदा शब्द ही सत्य रहे हैं। और जिन शब्दों में यह सच्चाई कही गई है वह हमारी परम्परा के हैं नहीं, इसीलिए हमारे लिए शब्दों के साथ-साथ सच्चाई भी परायी हो गयी है। परन्तु जब हम उसी सच्चाई का स्वयं साक्षात्कार कर लेते हैं तो उसमें परायापन नहीं रह जाता। सत्य तो सत्य है, अलग-अलग कैसे होगा ? संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिब्रू, अरबी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द, शब्द-सत्य मानने वालों को अलग-अलग लगेंगे। परन्तु इससे जरा आगे बढ़ें और थोड़ा-सा भी बुद्धि का प्रयोग करें तो यह बौद्धिक अनुमान-सत्य कई एक गुत्थियों को

खोलने में सहायक होगा। सत्य से, सम्बन्ध रखने वाली अनेक विभिन्नताएँ दूर करेगा। परन्तु जब स्वयं अनुभूतियों पर उतारने लगेंगे तो सच्चाई की सारी विभिन्नताएँ शनैः-शनैः दूर होंगी ही। सच्चाइयों में भेद नजर नहीं आयेगा, बशर्ते कि अनुभूति का प्रयोग पूर्वाग्रह-विहीन हो और सत्य शोधन के लिए ही हो।

सत्य न अपना होता है न पराया। न पुराना होता है न नया। न बूढ़ा होता है न जवान। न बर्मी होता है न भारतीय। न हिन्दू होता है न मुसलमान। सत्य सत्य है—सदा एकसा, सर्वत्र एकसा। परन्तु किसी मान्यता को जब कोरी कपोल कल्पनाओं पर आश्रित कर सत्य मानने लगते हैं तो विभिन्नता आती ही है। निष्पक्ष अनुभूतिजन्य सत्य में भेद नहीं हुआ करता। शब्द-सत्य और अनुमान सत्य की सीमाओं को लांघकर जब हम प्रत्यक्ष सत्य को महत्त्व देने लगते हैं तो मिथ्या कल्पनाओं की जड़ें हिलने लगती हैं। शुद्ध धर्म प्रतिष्ठापित होने लगता है। जो अनुभूतियों पर उतरे वही सत्य, ऐसा मानकर चलना धर्म के रास्ते पर चलना है। सत्य के, ज्ञान के, मुक्ति के रास्ते पर चलना है। ऐसे माहौल में अंधविश्वास टिक नहीं सकता। अनृत, झूठ पनप नहीं सकता। सत्य धर्म अनुसंधान का विषय है, अंधानुकरण का नहीं।

परन्तु जहाँ सम्प्रदाय पनपता है वहाँ साम्प्रदायिक नेता सत्य को समीप नहीं आने देते। सच्चाई को तर्क की कसौटी पर भी कसने नहीं देते। अनुभूतियों पर उतारना तो बहुत दूर की बात है। कहते हैं धर्म में अक्ल को दखल नहीं। कैसा धर्म है यह जिसमें अक्ल को स्थान न हो? बिना अक्ल, बिना बोधि का धर्म, धर्म कैसे हुआ? हां, यह ठीक है कि सम्प्रदाय में अक्ल की दखल नहीं होती, क्योंकि अक्ल आते ही सम्प्रदाय के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। वहाँ तो अंधविश्वास ही पनपता है, अनृत के धरातल पर अधर्म ही पनपता है। धर्म नहीं पनप सकता। जब आदमी अपने दिमाग को कैद कर लेता है तो सच्चाई का अनुसंधान स्वतः बन्द हो जाता है। धर्म के पांव कट जाते हैं, उसकी आँखें फूट जाती हैं और वह लंगड़ा और अंधा होकर सम्प्रदाय बन जाता है। आदमी ने तब-तब सत्य की शोध करनी छोड़ी जब-जबकि "बाबा वचन प्रमाण" वाला गुरुडम उसके सामने दीवार बन कर खड़ा हो गया।

किसी भी संकीर्ण बुद्धि वाले साम्प्रदायिक नेता को यही भय बना रहता है कि मेरे बाड़े की एक भी भेड़ यह बाड़ा तुड़ाकर किसी दूसरे में न जा

मिले। मेरे सभी अनुयायियों का भेड़-बकरियों और गाय-बैलों का सा अंधानुकरण वाला स्वभाव बना रहे। इसीलिए वह उन पर अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं की गहरी वारुणी चढ़ाए रखता है। अनेक बेतुकी व असंगत बातों को मानने के लिए मजबूर करते रहता है। न माने तो नारकीय यंत्रणाओं का आतंक और माने तो मुक्ति-मोक्ष का प्रलोभन देता रहता है। उसकी नजरों में धर्म भले छूटे पर सम्प्रदाय बना रहे। क्या दशा हो गई है हम मनु पुत्रों की? मनन-चिंतन का स्वभाव क्या खो बैठे अंधसम्प्रदाय का भूत सिर पर सवार कर लिया। हम अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों को बिना सोचे-समझे सत्य मानें और दूसरे धर्म-ग्रन्थों को बिना पढ़े ही असत्य मानें, ऐसा भावावेश हमारे भीतर कूट-कूट कर भरा गया है। हमें धर्म से कोई लेना-देना नहीं। हमारे लिए सम्प्रदाय ही प्रमुख है। बुरे से बुरा अधार्मिक दुराचारी व्यक्ति भी यदि हमारे सम्प्रदाय में है तो भला, अन्यथा अच्छे से अच्छा धार्मिक सदाचारी व्यक्ति भी पराए सम्प्रदाय में है तो हमें आँखों नहीं सुहाता।

हम अपने माँ-बाप से विरासत में जैसे अपनी शक्ल-सूरत पाते हैं, बोली-भाषा पाते हैं, वैसे ही अंधविश्वास व अंध मान्यताएँ पाते हैं। अंध भक्ति का भावावेश पाते हैं। साम्प्रदायिकता का वह आतंक प्रलोभन भी पाते हैं जो हमारी अंधमान्यताओं की जकड़ को मजबूत बनाता है। परन्तु साथ-साथ मानवीय बौद्धिक सम्पदा के बीज भी पाते हैं। हम अपने मां-बाप से प्राप्त हुई शक्ल-सूरतें नहीं बदल सकते, पर इन मान्यताओं को अपनी बुद्धि के प्रयोग से और अपनी अनुभूतियों के बल पर अवश्य बदल सकते हैं। जितनी काम की हों उन्हें रख सकते हैं, जो निकम्मी हों उखाड़ फेंक सकते हैं। अक्ल का बिल्कुल इस्तेमाल न करें, स्वानुभूतियों का जरा भी अभ्यास न करें तो बिना समझे ही उन अंध मान्यताओं को अपनी शक्ल व सूरत की तरह वैसी ही बनाए रखने की हर चन्द कोशिश करते हैं।

सत्य धर्म के अनुसंधान में अंध मान्यताओं के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ भी अंधमान्यताओं का आग्रह है, वहाँ धर्म नहीं सम्प्रदाय है, और समझना चाहिए कि कोई हमें स्वार्थवश या अज्ञानवश अपने बाड़े में बाँधे रखना चाहता है। सत्य और धर्म के लिए विचार, विमर्श और वाणी का स्वातन्त्र्य नितान्त आवश्यक है। प्रत्यक्ष अनुभूतियों का अभ्यास उससे भी

अधिक आवश्यक है। इन पर बेड़ियाँ लगी हों तो समझो हम सत्य और धर्म से दूर भटक रहे हैं।

अनुमान और प्रत्यक्ष सत्य का गठबंधन बड़ा कल्याणकारी होता है। जो अनुभव करें उसे बौद्धिक स्तर पर समझें और जिसे बौद्धिक स्तर पर समझें उसे अनुभूतियों के स्तर पर जानें, यही सत्य-शोध है। इस सत्यशोध में शब्द-सत्य भूमिका और मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है, बशर्ते कि हम उसका उपयोग खुले दिमाग से करें। लेकिन जब सत्य का शोधक किसी पूर्व मान्यता का पक्षधर हो जाता है तो सत्य का अनुसंधान छूट जाता है। फिर तो जीवन भर येन-केन-प्रकारेण अपनी मान्यता को सत्य सिद्ध करने में ही सारा परिश्रम लगा देता है।

किसी महापुरुष की अनुभूति-सिद्ध वाणी हो, उस पर हमारी बुद्धि की कसौटी की परख हो और उसके आधार पर हमारा प्रत्यक्षानुभूति का अभ्यास हो तो सत्यधर्म का रथ ठीक दिशा में आगे बढ़ता है और गंतव्य तक पहुँचाता है। सत्य के इन तीनों महत्त्वपूर्ण अंगों का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए हम असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर, बढ़ते चलें। इसी में हम सबका कल्याण, मंगल, भला समाया हुआ है।

सत्य न दूजा हो सके, सत्य सनातन एक।
बिन दर्शन बिन ज्ञान के, कल्पित हुए अनेक॥

शुद्ध सत्य ही धर्म है, अनृत धर्म न होय।
जहाँ पनपती कल्पना, धर्म तिरोहित होय॥

मनन करे चिंतन करे, यही मनुज का धर्म।
आँख मूंद पीछे चले, यह पशुओं का कर्म॥

शब्द बिचारा क्या करे? अर्थ न समझे कोय।
अर्थ बिचारा क्या करे? धारण करे न कोय॥

अपने-अपने ग्रंथ से, हुआ अमित अनुराग।
ग्रंथि बन गए ग्रंथ ही, मनुज बड़ा हतभाग॥

गीता हो या बाइबल, आगम तिपिटक होय।
बोधि वचन होवे जहाँ, बुद्ध वचन ही होय॥

१८. धर्म-दर्शन

□ □

धर्म-दर्शन माने सत्यदर्शन। यहाँ दर्शन का अर्थ न फिलासफी है, न तत्त्व-विवेचन है, न किसी रूप-आकृति को देखना ही। यहाँ दर्शन का अर्थ है प्रत्यक्ष सत्य की स्वानुभूति। जीवन-जगत की सच्चाइयों को, प्रकृति के सर्वव्यापी विधान को प्रत्यक्षानुभूति द्वारा जानना ही धर्मदर्शन है, सत्यदर्शन है।

धर्म दुखों से छुटकारा पाने के लिए है और दर्शन है इसका वैज्ञानिक अभ्यास। प्रकृति के वे नियम जो हम पर हर क्षण लागू होते हैं, जिनका हमसे सीधा सम्बन्ध है उनको जानना, समझना, स्वीकारना और अपने आपको उनके अनुकूल ढालना, यही धर्मदर्शन का उद्देश्य है। दर्शन के अभ्यास द्वारा हम इसमें जितने-जितने पकते हैं, उतने-उतने धर्म में प्रतिष्ठित होते हैं, सुख-शांति के सच्चे अधिकारी होते हैं। धर्मदर्शन का अभ्यास हमारे आध्यात्मिक उत्थान का सोपान-पथ है।

प्रकृति के वे नियम जिनका हमारे दुःखों से और दुख-विमोचन से, हमारे बंधनों से और बंधन-विमुक्ति से सीधा सम्बन्ध है, उन्हें जानना और जानकर उनका अपने भले के लिए उपयोग करना ही धर्म है। जो दुखों का कारण है उसका निवारण करना और जो दुःख-विमुक्ति का उपाय है उसको धारण करना यही सर्वव्यापी विधान से समरस कराने वाला आत्महित व सर्वहितकारी धर्म है। प्रकृति का कारण-कार्य वाला विधान सब पर लागू होता है। यह विधान न किसी पर कोप करता है न कृपा। कुदरत किसी का लिहाज नहीं करती। जो कानून तोड़ता है वह दंडित होता है, जो पालता है वह पुरस्कृत। अग्नि का धर्म जलाना है, यह प्रकृति का विधान है। हम अपनी नासमझी

से अग्नि का दुरुपयोग करते हैं तो अपनी तथा औरों को हानि करते हैं और सदुपयोग करते हैं तो उसका भरपूर लाभ उठाते हैं। हमारे दुःख व दुःख-निरोध, हमारी नासमझी और समझदारी पर निर्भर करते हैं। निर्गुण, निराकर, व्यक्तित्व-विहीन, सर्वव्यापी, अनंत विश्व-विधान याने विश्व-धर्म में किसी के प्रति कोई पक्षपात का भाव है ही नहीं। यह विधान सब पर समानरूप से लागू होता है। जो इसमें समरस हुआ, वही दुःख-मुक्त हुआ। जितना-जितना समरस हुआ, उतना-उतना दुःख-मुक्त हुआ। जब तक हम इस सच्चाई को ठीक-ठीक समझते नहीं तब तक भटकते हैं और अपनी हानि करते हैं। ठीक-ठीक समझ लें तो भटकना छूट जाय। विधान याने धर्म पालने के प्रयास में लग जायँ। ताकि अज्ञानवश विधान-विरुद्ध कर्मों के आचरण से जो कष्ट उठा रहे हैं उनसे छुटकारा पा लें।

मोटे-मोटे तौर पर खान-पान, रहन-सहन से सम्बन्ध रखने वाले कुदरत के जो कानून कायदे हैं, उन्हें समझकर और उनके अनुसार चलकर हम शरीर से स्वस्थ रहते हैं। ठीक वैसे ही सूक्ष्मतर स्तरों पर जो कानून हैं उन्हें जान-समझकर और उनका पालन करके हम आंतरिक सुख-शांति हासिल कर सकते हैं।

रोग का कारण नहीं जानेंगे तो उसका निवारण नहीं कर पाएंगे। कहीं और ही जा उलझेंगे जिनका रोग से दूर-परे का भी सम्बन्ध नहीं। यही अज्ञान है जो कि हमें रोग-मुक्त नहीं होने देता। रोग का सही कारण मालूम हो जाय और उस कारण के निवारण में लग जायँ तो रोग-मुक्त होने में क्या संशय रहे ?

जब मानवीय ज्ञान और प्रतिभा अपनी शैशव अवस्था में थीं तो विस्मय-विभोर मानव, प्रकृति के हर स्वरूप को रहस्य गुम्फित-ही देखता था। उसके सौम्य स्वरूप से मुग्ध हो उठता था और प्रचंड स्वरूप से भयभीत। सही कारणों को न जानने की उस अवस्था में भयभीत मानव ने कल्पना के सहारे किसी अदृश्य देव के प्रकोप को प्रकृति की विनाशलीला का कारण समझा और अपनी सुरक्षा हेतु उसकी प्रसन्नता का याचक बना, उसकी प्रशंसा में गीत गाए, उसका पूजन-अर्चन किया, उसे अन्न-बलि ही नहीं, बल्कि निरीह-निरपराध पशुओं और मनुष्यों तक की बलि चढ़ाकर धरती को रक्त-रंजित किया। लेकिन

जब सही कारण ही नहीं समझा तो रोग का इलाज कैसे होता ? जिन थोड़े से मनुष्यों ने इन अंध-विश्वासों की अवहेलना की और सच्चाई की खोज की, उन्हें अपने श्रम का उचित फल मिला। उन्होंने प्रकृति की सच्चाइयों के बहुत से रहस्य खोज निकाले। प्लेग, हैजा, चेचक जैसी महामारियों के सही कारण मालूम किए। मेधावी मानव ने इन रोगों के उन्मूलन में अपनी सारी शक्ति लगा दी। अकाल और बाढ़ देखकर असहाय हो हाथ जोड़ने के बजाय उसने अपनी बुद्धि लगायी और पुरुषार्थ जगाया। नदियों पर बाँध बाँधे गए। सत्य की खोज करने वाले इन मानव मनीषियों ने इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अंधविश्वास की जड़ें खोदीं और मानव जाति को सुख-साधन-समृद्ध करने में लगे रहे। स्तुत्य है मानव का यह सत्यशोधक अभियान जो कि अब अन्तरिक्ष मापने के लिए अपना वामन कदम बढ़ा रहा है।

परन्तु इस बाह्य अन्वेषण से कहीं अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण रहा अपने आंतरिक अंतरिक्ष का अन्वेषण, अपने आप से सम्बन्ध रखने वाली निःमर्ग की सच्चाइयों की खोज। वे सच्चाइयां जिनकी वजह से हम दुःख-संतप्त हो जाते हैं और वे जिनकी वजह से हम दुःख-मुक्त हो सकते हैं। इनको न जानने की वजह से अपने दैनिक जीवन की कठिनाइयों का कारण इन देवी-देवताओं और जगदीश्वरों की रुष्टि पर, और निवारण उनकी तुष्टि पर आरोपित करने लगे। और इसीलिए जब-जब छोटा या बड़ा दुःख आया तो अपनी अबोध और भयभीत मनोस्थिति में हम उनकी मनौती मनाने लगे, उन्हें भेंट चढ़ाने लगे, उनके स्थानों की यात्रा पर जाने लगे, उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाओं के स्तवन पाठ करने लगे। इन मनोकल्पित विधाताओं को प्रसन्न करने के लिए अनगिनत कर्मकांडों का सृजन और पालन करने लगे।

परन्तु मानव-जाति का प्रबुद्ध वर्ग इस आंतरिक सत्य की खोज में लगा रहा। अनेक युगों में ऐसे अनेक ऋषि, मुनि, संत, ज्ञानी, बुद्ध, जिन हुए जिन्होंने अंतर के अंतरिक्ष की खोज कर करके यह सिद्ध किया कि हमारे दुःखों का मूल कारण और उसके उन्मूलन का उपाय हमारे भीतर ही है, कहीं बाहर नहीं। उन्होंने देखा कि इस चित्तधारा पर जब क्रोध, ईर्ष्या, भय, वासना, मात्सर्य आदि विकारों की विकृति आती है तो हम दुःख-संतप्त हो उठते हैं और यदि ये विकार दूर हो जायँ तो दुख से विमुक्त हो जाते हैं। उन्होंने खोजा कि

आखिर ये विकार भी क्यों पैदा होते हैं ? और पाया कि समस्त विकारों की जननी तृष्णा है। प्रिय को प्राप्त करने की तृष्णा, अप्रिय को दूर हटाने की तृष्णा। भीतर ही भीतर कोई प्रिय-सुखद संवेदना जाग्रत हुई कि राग-रूपी और कोई अप्रिय दुखद संवेदना हुई कि द्वेषरूपी तृष्णा जागी। खोज जारी रही और उन्होंने जानना चाहा कि ये प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुखद संवेदनाएं आखिर क्यों जागती हैं ? तो उन्होंने देखा कि जब-जब आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छह इन्द्रियों का अपने विषयों—रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्शव्य और चिंतन से संस्पर्श-संघात होता है, तब-तब भीतर ही भीतर शरीर और चित्त-स्कंध पर विभिन्न प्रकार की अनगिनित सूक्ष्म तरंगें पैदा होती हैं और अपने पूर्व संस्कारों व अनुभूतियों के आधार पर हम उन्हें प्रिय या अप्रिय की संज्ञा देते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जब आंख, कान, नाक, जीभ पर किसी विषय का कोई स्पर्श नहीं हो रहा हो और परिणामतः संस्पर्शजन्य संवेदना नहीं हो रही हो तो भी शरीर और चेतना के स्तर पर तो जब तक जीवित हैं, तब तक प्रतिक्षण यह स्पर्श.संवेदनाएं होती ही रहती हैं और इन्हें प्रिय-अप्रिय मानकर हम राग अथवा द्वेष की प्रतिक्रिया करते ही रहते हैं। और उन्होंने यह भी देखा कि यह सारा का सारा प्रपंच अन्तर्मन के उस स्तर पर चलता रहता है जिस स्तर पर कि हमें होश ही नहीं रहता। याने हमें पता ही नहीं चलता कि कब स्पर्श हुआ ? उसके परिणामस्वरूप कब संवेदना जागी और उसकी प्रतिक्रिया करते हुए कब हम राग-द्वेष के स्रोत में पड़ गए ? कब तनाव-खिचाव की गांठें बांधने लगे और कब दुःखों का ढेर लगाने लगे ? उन्होंने देखा कि ऊपर-ऊपर तथाकथित होश बने रहने पर भी भीतर ही भीतर बेहोशी, अज्ञान, अविद्या, मोह के माहौल में हम इस चित्तधारा में प्रतिक्षण अनजाने ही राग-द्वेष का मैल प्रवाहित करते रहते हैं। वैसे ही जैसे नासूर में से पीप का आस्रव सतत बहता रहता है। इसी कारण दुख-निमग्न हुए रहते हैं।

शोध जारी रही। उन्होंने देखा कि जिस.जिस क्षण अन्तर्मन की उन गहराइयों तक जागरूक रहते हैं, अप्रमत्त रहते हैं, अज्ञान, अविद्या और मोह से मुक्त रहते हैं, इस अनित्य प्रवाह को निर्लिप्त अनासक्त भाव से देखते रहते हैं उस-उस क्षण चित्तधारा पर नया राग नहीं जागता, नया द्वेष नहीं जागता। परिणामस्वरूप पुराने आस्रव क्षीण होते हैं, पूर्व संचित मैल छंटता है। उन्होंने देखा कि बार-बार की समतामयी जागरूकता के अभ्यास से

चित्तधारा निर्मल हुई जाती है और जितनी-जितनी निर्मल होती है उतनी-उतनी सद्‌गुणों से स्वतः संपन्न होती जाती है। जब नितांत निर्मल हो जाती है तो सर्वथा सद्‌गुण सम्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार स्वानुभूतियों के बल पर उन सत्यशोधकों ने देखा कि रोग का मूलभूत कारण और उसके निवारण का उपाय क्या है? निसर्ग ने अपने सारे राज, रहस्य उनके सामने खोलकर रख दिए। उन्होंने देखा कि सत्यशोधन के इस प्रक्रम में उनकी अपनी चित्तधारा आस्रवों से, मैल से मुक्त हो गई है। उन्होंने पाया कि जो-जो व्यक्ति इस अन्तर्निरीक्षण और आत्मदर्शन के प्रक्रम को अपनाता है, वह-वह निर्मल-चित्त होकर दुःख-विमुक्त हो जाता है। सत्य-शोधन का यह प्रत्यक्ष लाभ मानव जाति की बहुत बड़ी उपलब्धि रही।

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि जैसे बाह्य भौतिक जगत के वैज्ञानिकों की खोज का लाभ उठाते हुए हम उनके द्वारा किए शोध प्रयोगों में से स्वयं नहीं गुजरते, हमें उनकी उपलब्धियों का सीधे लाभ मिलने लगता है, वैसे ही इस आंतरिक चैतसिक जगत की खोज का लाभ हमें स्वतः क्यों न मिले? हम उनके द्वारा खोजी गई सच्चाई को मान लें। उसमें श्रद्धा जगा लें। बस, काम पूरा हुआ। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उस शोध के प्रक्रम में से स्वयं क्यों गुजरे? धर्म-दर्शन का अभ्यास स्वयं क्यों करे? उत्तर यही है कि यह शोध प्रक्रम ही तो उनकी खोज थी। यही तो हमारे रोग का इलाज है। जब तक कोई स्वयं आत्मनिरीक्षण न करे, तब तक दुख-विमुक्त नहीं हो सकता। अपने चित्त के विकारों का स्वयं साक्षात्कार करके ही उनका उन्मूलन किया जा सकता है। यही तो औषधि है जिसका सेवन करना ही होता है। जैसे किसी चिकित्सा जगत के वैज्ञानिक ने खोज निकाला कि मलेरिया के रोग का अमुक कारण है और उस कारण का इलाज कुनैन की दवा है। अब कुनैन की दवा चाहे जितनी गुणकारी हो, उसे रोगी स्वयं सेवन करेगा तो ही मलेरिया से मुक्त होगा। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की विधियों में से भटकते हुए इन श्रेयार्थी साधकों ने धर्मदर्शन की दवा खोज निकाली जो कि हजार राम-बाण औषधि हो तो भी इसका सेवन तो अनिवार्य है ही। उन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त महापुरुषों की तो इतनी ही कृपा है कि उन्होंने रास्ता ढूंढ दिया। उस पर चलना तो हमें होगा ही। कोई अपने कंधे पर चढ़ाकर मंजिल तक पहुँचाने नहीं आएगा।

'अपनी मुक्ति अपने हाथ' की सच्चाई को मानने का अर्थ अहंकारी बनना नहीं, बल्कि विनीतभाव से अपनी जिम्मेदारी को स्वीकार करना है।

साधको ! मैं अपने तथा अपने परिचित हजारों साधकों के अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि इस प्रक्रिया के अभ्यास मार्ग में कहीं कोई अलौकिक चमत्कार नहीं है। जो उपलब्धि होती है वह स्वयं अपने कठिन परिश्रम से ही होती है। मेरे पास मेरा मैला मानसिक आंचल है। सौभाग्य से यह विधि साबुन स्वरूप प्राप्त हुई। मैंने इस साबुन का जितना प्रयोग किया, उतना ही मैल धुला, अधिक नहीं। जितनी मात्रा में मैल बचे हैं उतनी मात्रा में दुख हैं ही। काम कुछ न करूँ अथवा जरा-सा ही करूँ और मैल सारे धुल जायँ ऐसा कोई करिश्मा नहीं होता। वस्तुतः यह तो जीवन भर का काम है। सारे जीवन अपने आपके प्रति सजग सचेत रहना ही होगा। अप्रमत्त रहना ही होगा। सचमुच काम कठिन है। पर दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं।

लेकिन हमारा भोलापन है कि हम कोई करिश्मे का रास्ता ढूंढ़ते हैं। ऐसा करिश्मा जिसकी वजह से हमें कोई कठिन श्रम न करना पड़े और सफलता भी मिल जाय। ऐसी अवस्था में हम फिर कल्पना लोक की उड़ानें भरने लगते हैं। इतने मनीषियों द्वारा परम सत्य की खोज हो जाने के बाद यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि हमारे दुःखों का कारण कोई देव या जगदीश्वर नहीं, हमारे अपने संचित कर्म-संस्कार ही हैं। परन्तु फिर आशा बाँधने लगते हैं कि हमारे द्वारा हजार दूषित कर्म करने के बावजूद भी कोई ऐसा सर्वशक्तिमान् और करुणा-सागर है जिसे किसी प्रकार प्रसन्न कर लें तो वह हमारे सारे दुखों को दूर कर देगा। इस आशा में फिर खुशामदें, भेंट, चढ़ावे, का क्रम चल पड़ता है। हम नहीं जानते हम कर क्या रहे हैं ? अंधभक्ति के भावावेश में हमने जिस भगवान का निर्माण किया उस बेचारे की ही कैसी मट्टीपलीत कर रहे हैं ? कैसा है यह भगवान जो अपने मान-सम्मान से प्रसन्न होता है ? अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा प्रशस्तियों से फूलकर कुप्पा हो जाता है। जी हजूरी करने वाले खुशामदी लोगों पर कृपादृष्टि रखता है। भेंट चढ़ाने वालों पर अपनी महर बरसाता है। अपने प्रशंसक पर प्रसन्न होकर उसके काले को भी सफेद कर देता है। प्रवंचक अपराधी को निरपराधी के समकक्ष बैठा देता है। अहम् का पुतला ऐसा कि कोई भूले-चूके भी उसका नाम ले ले तो उसे झट

तार देने पर तत्पर हो जाता है। ऐसी आसक्ति है उसे अपने नाम से। और ऐसी ही आसक्ति है उसे अपने संप्रदाय से ! जिस-जिस संप्रदाय का भगवान है, उस-उस संप्रदाय के व्यक्ति का पक्ष लेता है और अलग-अलग संप्रदायों के हमने अलग-अलग पक्षपाती भगवान खड़े कर लिए। अरे, कोई सीमा है हमारे भोलेपन की भी ? क्या सचमुच इस विशाल विश्व की व्यवस्था ऐसे किसी शासक या शासकों के हाथ में है जो पक्षपाती हैं, दंभी हैं, निरंकुश हैं, कानून-कायदों को, धर्म-विधान को ठुकराकर मनमानी करने वाले हैं ? दुर्गुण ही दुर्गुण के भण्डार हैं।

यदि मान्यता ही करनी थी तो ऐसे दुर्गुणी की जगह किसी सद्गुण संपन्न देवता की करते ताकि उसके गुणों का चिंतन कर, उससे प्रेरणा पाकर स्वयं सर्व-गुण सम्पन्न होने में तो लगते। कल्याण तो सधता। परन्तु अपने भोलेपन में हम अपना ही अमंगल साधने लगे। चित्त विशुद्धि से ही दुख-विमुक्ति है, इस विधान को स्वीकारते हुए भी चित्त विशुद्ध हो, न हो, इस विधान के परे किसी निरंकुश विधायक को प्रशंसाओं से प्रसन्न करने के भोलेपन में जुट गए।

धर्म-दर्शन का अभ्यास हमें ऐसी भूलों से बाहर निकालता है। दुख का कारण चित्त के दूषण हैं और चित्त के इन दूषणों से विमुक्त हो जाना ही दुख-विमुक्ति है। निःसर्ग का यह अटल नियम विधान जितना स्पष्ट होता चला जाय, उतना चित्त-विशुद्धि को ही एकमात्र लक्ष्य मानकर हम धर्मपथ पर आरूढ़ हो जायँ। फिर तो विधान पालन ही हमारे लिए प्रमुख हो जाय। और सब गौण। विधान ही विधायक हो जाय, नियम ही नियामक हो जाय, सत्य ही नारायण हो जाय, धर्म ही ईश्वर हो जाय। विधान, नियम, सत्य, धर्म को ठुकराकर इनसे अलग किसी नारायण को प्रसन्न करने की बात मन में आए ही नहीं। धर्म छूटने में अमंगल ही अमंगल सूझे और धर्म-धारण में मंगल ही मंगल।

सत्य को ही ईश्वर मानकर उसके प्रति सविवेक श्रद्धा रखते हुए जब हम धर्म-दर्शन का अभ्यास करते हैं तो सचमुच जितना-जितना धर्मदर्शन याने सत्यदर्शन होता है, उतने-उतने दुःखविमुक्त हो जाते हैं। उस अवस्था में अनंत प्रकृति की सूक्ष्मतर सच्चाइयों के साथ समरस होने लगते हैं और प्रकृति की यह सच्चाई अपने ही नियमों से बंधी होने के कारण स्वतः हमारी रक्षा करने लगती है। धारण करें तो धर्म स्वतः हमारी रक्षा करता है। इसके लिए उसकी अथवा किसी की भी खुशामद नहीं करनी पड़ती। यह धर्म नियामता

है। जब हमारा मन दुर्गुणों में उलझता है और दूषित वृत्तियों की तरंगें पैदा करता है तो समस्त विश्व में व्याप्त वैसी दूषित तरंगों के साथ समरस होकर हमारे दुर्गुणों को और फलतः दुखों को बढ़ाता है। ठीक इसी प्रकार जब हमारा मन दुर्गुणों से मुक्त होकर निर्मल होता है, सद्गुणों से भरता है, सद्वृत्तियों की तरंगें प्रजनन करने लगता है तो अनंत विश्व में समायी हुई दृश्य-अदृश्य प्राणियों की, जो भी सात्विक देव-ब्रह्म हैं उनकी शुद्ध धर्ममयी सात्विक तरंगें हमसे आ मिलती हैं, हमें बल प्रदान करती हैं और हमारा सुख-संवर्धन करती हैं, संरक्षण करती हैं। यही नियम है, विधान है, जो प्रत्यक्ष अनुभूत किया जा सकता है।

किसी भी देश का राज्यविधान उस देश का धर्म होता है—वैसे ही यह सार्वदेशिक, सार्वजनीन, सार्वकालिक विश्व-विधान, विश्व-धर्म है। जब उस देश का नागरिक उस राज्यविधान के अनुसार जीवन-यापन करता है, विधान को तोड़ता नहीं, तो उसे विधायक के कुपित होने का कोई भय नहीं होता। दूसरी ओर बिना प्रार्थना-पुकार के उसकी सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी राज्य की ही होती है। परन्तु जो विधान को, राज्य के कानून को कदम-कदम पर तोड़ता है और विधायक या शासक को खुश रखने के लिए उसकी खुशामदें करता है, उसे फूल-पत्तियां चढ़ाता है तो ऐसा व्यक्ति न केवल अपनी बल्कि समस्त देश और समाज की सुख-शांति के लिए, व्यवस्था के लिए खतरनाक साबित होता है। जिस देश के लोग राज्य के कानून का सजग होकर पालन करें, उस देश में, समाज में सुख-शांति विराजेगी ही। इसी प्रकार इस विशाल विश्व राज्य में भी विश्व-विधानरूपी धर्म-पालन के अतिरिक्त सुख-शांति हासिल करने का और क्या साधन हो सकता है?

इसीलिए न केवल अपनी सुख-शांति के लिए, बल्कि सब की सुख-शांति के लिए धर्म धारण करें। विश्वविधान के अनुकूल जीवन जिएं और अटूट निष्ठा के साथ धर्मदर्शन के अभ्यास द्वारा चित्त को विकार-विहीन करने में लगें। इस अभ्यास में जो भी बाधाएं आएं, वे कितनी ही प्रिय लगने वाली क्यों न हों, वे हमारे मत-मतांतरों की रूढ़ मान्यताओं के कितनी ही अनुकूल क्यों न हों, उन्हें निर्ममतापूर्वक दूर करके "एकै साधे सब सधे" वाले अनन्यभाव से चित्त-विशुद्धि का अनथक प्रयत्न करते ही रहें, करते ही रहें। अनंत के कण-कण में समाए हुए मंगलमय परम सत्य का यही विधान है।

कुदरत का कानून है, कृपा करे ना क्रोध।
विकृत मन होवे दुखी, होय सुखी चितशोध॥

किसको पूजूं हवि करूं ? कौन देवता ईश ?
मैं तो पूजूं सत्य को, सत्य धर्म जगदीश॥

ऋत छूटा अनृत रहा, रचिया बना प्रधान।
ऋत-रचिया के फेर में, ऋत भूला नादान॥

क्या ईश्वर पूजन करें ? धर्म रहे ना पास।
क्या ईश्वर पूजन करें ? धर्म रहे यदि पास॥

शील पालना कठिन है, ईश भजन आसान।
शील छोड़ ईश्वर भजें, कितने जन नादान॥

धर्म पालने में जहाँ, जो जो बाधक होंय।
चाहे जितने प्रिय लगें, त्यागें निर्मम होय॥

१९. विपश्यना क्यों ?

□ □

मन में मैत्री करुण रस, वाणी अमृत घोल।
जन जन के हित के लिए, धर्म वचन ही बोल ॥

शांति व चैन किसे नहीं चाहिए जबकि सारे संसार में अशांति और बेचैनी छायी हुई नजर आती है ? शांतिपूर्वक जीना आ जाय तो जीने की कला हाथ आ जाय। सच्चा धर्म सचमुच जीने की कला ही है, जिससे कि हम स्वयं भी सुख और शांतिपूर्वक जीएँ तथा औरों को भी सुख-शांति से जीने दें। शुद्ध धर्म यही सिखाता है, इसलिए सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है। संप्रदाय धर्म नहीं है। सम्प्रदाय को धर्म मानना प्रवंचना है।

समझें ! धर्म कैसे शांति देता है ?

पहले यह जान लें कि हम अशांत और बेचैन क्यों हो जाते हैं ? गहराई से सोचने पर साफ मालूम होगा कि जब हमारा मन विकारों से विकृत हो उठता है तब वह अशांत हो जाता है। चाहे क्रोध हो, लोभ हो, भय हो, ईर्ष्या हो या और कुछ। उस समय विक्षुब्ध होकर हम संतुलन खो बैठते हैं। क्या इलाज है जिससे हममें क्रोध, ईर्ष्या, भय इत्यादि आएं ही नहीं और आएँ भी तो इनसे हम अशांत न हो उठें।

आखिर ये विकार क्यों आते हैं ? अधिकांशतः किसी अप्रिय घटना की प्रतिक्रियास्वरूप आते हैं। तो क्या यह संभव है कि दुनिया में रहते हुए कोई अप्रिय घटना घटे ही नहीं ? कोई प्रतिकूल परिस्थिति पैदा ही न हो ? नहीं, यह किसी के लिए भी संभव नहीं। जीवन में प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार की परिस्थितियां आती ही रहती हैं। प्रयास यही करना है कि विषम परिस्थिति पैदा

होने के बावजूद भी हम अपने मन को शांत व संतुलित रख सकें। रास्ते में कांटे-कंकर रहेंगे ही। उपाय यही हो सकता है कि हम जूते पहन कर चलें। तेज वर्षा-धूप आयेगी ही, बचाव इसी में है कि हम छाता तानकर चलें। यानी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी हम अपनी सुरक्षा स्वयं करना सीखें।

सुरक्षा इसी में है कि कोई गाली दे, अपमान करे तो भी मैं क्षुब्ध न होकर निर्विकार बना रहूँ। यहां एक बात यह विचारणीय है कि किसी व्यक्ति द्वारा अयोग्य व्यवहार करने पर यानि उसके दोष के कारण क्षोभ या विकार मुझे क्यों होता है ? इसका कारण मुझमें यानि मेरे अचेतन मन में संचित अहंकार, आसक्ति, राग, द्वेष, मोह आदि की गांठें हैं जिन पर उक्त घटना के आघात लगने पर क्रोध, द्वेष आदि विकार चेतन मन पर उभरते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति का अन्तर्मन परम शुद्ध है उसे ऐसी घटनाओं से कोई विकार या अशांति नहीं हो पाती।

परन्तु प्रश्न यह है कि जब तक अन्तर्मन परम शुद्ध नहीं हो जाता तब तक क्या किया जाय ? मन में पूर्व संचित संस्कारों की गंदगियां तो हैं ही और इन्हीं के कारण किसी भी अप्रिय घटना का संपर्क होते ही नए विकारों का उभार आता ही है। ऐसी अवस्था में क्या करें ?

एक उपाय तो यह है कि जब मन में कोई विकार जागे तो उसे दूसरी ओर लगा दें। किसी अन्य चिंतन में अथवा अन्य काम में। यानी वस्तुस्थिति से पलायन करें। परन्तु यह सही उपाय नहीं है। जिसे हमने दूसरी ओर लगाया वह तो ऊपर-ऊपर का चेतन मन है। अन्दर का अचेतन, अर्द्ध चेतन मन तो उसी प्रकार क्षुब्ध होकर भीतर ही भीतर मूंज की रस्सी की तरह अकड़ता और गांठें बांधता जाता है। भविष्य में जब कभी ये गांठें उभरकर चेतन मन पर आएंगी तब और अधिक अशांति और बेचैनी पैदा करेंगी। अतः पलायन करना समस्या का सही समाधान नहीं है। रोग का सही इलाज नहीं है।

इसी समस्या के समाधान की खोज आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व इसी देश में भगवान गौतम बुद्ध ने की और लोगों के कल्याण के लिए इसे सर्व सुलभ बनाया। उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बल पर जाना कि ऐसे अवसर पर पलायन न करके वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। किसी भी घटना

के कारण जो भी विकार जागे उसे यथावत् देखना चाहिए। क्रोध आया तो क्रोध जैसा है उसे वैसा ही देखें। देखते रहें। इससे क्रोध शांत होने लगेगा। इसी प्रकार जो विकार जागे, उसे यथाभूत देखने लगें तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी। परन्तु कठिनाई यह है कि जिस समय विकार जागता है उस समय हमें होश नहीं रहता। क्रोध आने पर यह नहीं जानते हैं कि क्रोध आया है। क्रोध निकल जाने के बाद होश आता है। तब सोचते हैं कि बड़ी भूल हुई जो क्रोध में आकर किसी को गाली दी या मार-पीट पर उतारू हो गये। इस बात को लेकर पश्चाताप करते हैं। परन्तु दूसरी बार वैसी परि-स्थिति आने पर फिर वैसा ही करते हैं। वस्तुतः क्रोध आने पर तो हमें होश रह नहीं पाता। बाद में होश आने पर पश्चाताप करने से लाभ नहीं होता। चोर आए तब तो सोए रहें, परन्तु उसके द्वारा घर का माल चुरा ले जाने के बाद जल्दी-जल्दी ताले लगाएं तो इससे क्या लाभ ? निकल भागने के बाद उस सांप की लकीर पीटते रहे तो क्या लाभ ? विकार जागने पर होश कौन दिलाए ? क्या हर आदमी अपने साथ सचेतक के रूप में कोई सहायक रखे ? यह संभव नहीं है। और मान लीजिए कि संभव हुआ भी, किसी ने अपने लिए कोई सहायक नियुक्त कर भी लिया और ऐन मौके पर उस सहायक ने सचेत भी कर दिया कि आपको क्रोध आ रहा है, आप क्रोध को देखिए। तो दूसरी कठिनाई यह है कि अमूर्त क्रोध को कोई कैसे देखे ? जब क्रोध को देखने का प्रयास करते हैं तब जिसके कारण क्रोध आया है वही आलंबन बार-बार मन में उभरता है और आग में घी का काम करता है। वही तो उद्दीपन है। उसी के चिंतन से विकार से छुटकारा कैसे होगा ? बल्कि उसे बढ़ावा मिलेगा। तो एक और बड़ी समस्या यह है कि आलंबन से छुटकारा पाकर अमूर्त विकार को साक्षीभाव से कैसे देखा जाय ?

अतः हमारे समाने दो समस्याएं हैं। एक तो यह कि विकार के जागते ही हम सचेत कैसे हों ? और दूसरी यह कि सचेत हो जायं तो अमूर्त विकार का साक्षीभाव से निरीक्षण कैसे कर सकें ? उस महापुरुष ने प्रकृति की सच्चाइयों की गहराई तक खोज करके यह देखा कि किसी भी कारण से जब कभी मन में कोई विकार जागता है तब एक तो सांस की गति में अस्वाभाविकता आ जाती और दूसरे शरीर के अंग-प्रत्यंग में सूक्ष्म स्तर पर किसी न किसी प्रकार की जीव-रसायनिक क्रिया होने लगती है। यदि इन दोनों को देखने का

अभ्यास किया जाय तो परोक्ष रूप से अपने मन के विकार को देखने का काम ही होने लगता है और विकार स्वतः क्षीण होते-होते निर्मूल होने लगता है। सांस को देखने का अभ्यास आना-पान सति कहलाता है और शरीर में होने वाली जीव-रसायनिक प्रतिक्रियाओं को साक्षीभाव से देखने का अभ्यास विपश्यना कहलाता है। दोनों एक-दूसरे से गहरे संबंधित हैं। इन दोनों का बहुत अच्छा अभ्यास हो जाय तो किसी भी कारण जब मन में विकार उठे तो पहला काम यह होगा कि सांस की बदली हुई गति और शरीर में उत्पन्न हुई किसी भी प्रकार की जीव-रसायनिक प्रतिक्रिया हमें सचेत करेगी कि चित्तधारा में कोई विकार जाग रहा है। सांस और इस सूक्ष्म संवेदना को देखने लगें तो स्वभावतः उस समय के उठे हुए विकार का उपशमन, उन्मूलन होने लगेगा। जिस समय हम अपने सांस के लेने और छोड़ने को साक्षीभाव से देखते हैं अथवा शरीर की जीव-रसायनिक या विद्युत-चुंबकीय प्रतिक्रिया को साक्षीभाव से देखते हैं, उस समय विकार उप्पन्न करने वाले आलंबन से सहज ही संपर्क टूट जाता है। ऐमा होना वस्तुस्थिति से पलायन नहीं है। क्योंकि अन्तर्मन तक उस विकार ने जो हलचल पैदा करदी उस सच्चाई को अभिमुख होकर देख रहे हैं। सतत् अभ्यास द्वारा अपने आपको देखने की यह कला जितनी पुष्ट होती है उतनी ही स्वभाव का अंग बनती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि विकार जागते ही नहीं अथवा जागते हैं तो बहुत दीर्घ समय तक चल नहीं पाते या चलते भी हैं तो पथ्थर की लकीर की तरह के संस्कार गहरे अंकित नहीं हो पाते। बल्कि पानी या बालू पर पड़ी लकीर जैसा हल्का सा संस्कार बनता है जिससे शीघ्र छुटकारा मिल जाता है। संस्कार जितना गहरा होता है, उतना ही अधिक दुखदायी और बंधनकारक होता है। जितनी शक्ति से और जितनी देर तक किसी विकार की प्रक्रिया चलती है, अन्तर्मन पर उसकी उतनी ही गहरी लकीर पड़ती है। अतः काम की बात यह है कि विकार जागते ही उसको साक्षीभाव से देख-कर उसकी शक्ति क्षीण कर दी जाय ताकि वह अधिक लंबे अर्से तक चलकर गहराई में न उतर सके। आग लगते ही उस पर पानी छिड़कें। कहीं ऐसा न हो कि पेट्रोल छिड़क कर उस आग को बढ़ावा दे दें। जगे हुए विकार को सचेत होकर तत्क्षण देखने लग जाना उस विकार की आग पर पानी छिड़कना है और जिस आलंबन को लेकर विकार जागा, बार-बार उसका चिंतन करना, उस पर पेट्रोल छिड़कना है। अपने अपमान की अप्रिय घटना को याद करते

रहें तो द्वेष की लकीर को याद करके अधिक गहरी बना लेते हैं। उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है।

प्रकृति के कानून को ऋत कहते हैं। हम उसे ही धर्म कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि जब हमारे मन में कोई विकार जागता है, तब हम अशांत हो जाते हैं और विकार से छुटकारा पाते ही अशांति से छुटकारा पा लेते हैं। सुख-शान्ति भोगने लगते हैं। प्रकृति के इस नियम को जानकर विकारों से छुटकारा पाने का कोई तरीका कोई महापुरुष धर्म के रूप में दुखियारे लोगों को देता है। परन्तु अपने पागलपन से उन तरीकों को अपनाने के बजाय यानि धर्म को धारण करने के बजाय हम उसे बाद-विवाद का विषय बनाकर सिद्धान्तों की लड़ाई में पड़ जाते हैं और कोरे दार्शनिक बुद्धिविलास से पारस्परिक विद्रोह बढ़ाकर अपनी हानि करते हैं। विपश्यना दार्शनिक सिद्धान्तों का संघर्ष नहीं है। हर व्यक्ति ज्ञान-चक्षु द्वारा अपने आपको देखे, स्व का निरीक्षण करे। अपने भीतर जब विकारों की आग लगे तब उसे स्वयं देखकर बुझाए। यही सम्यक्दर्शन है। यही 'स्व' का निरीक्षण है। ज्ञान चक्षु से निरीक्षण है। अनुभूतियों के स्तर पर सत्य निरीक्षण है। जागरूक रहकर यथावत् सत्य को देखने का अभ्यास विपश्यना है। इसको बुद्धिविलास का विषय बनाने से कोई लाभ नहीं। पढ़ने-सुनने या चर्चा-परिचर्चा से बौद्धिक-स्तर पर विषय समझ लिया जा सकता है। उससे कुछ प्रेरणा भी मिल सकती है। परन्तु वास्तविक लाभ अभ्यास करने में है। अपने मन को विकारों से विकृत न होने दें, सदा सचेत रहकर स्व का निरीक्षण करते रहें, यह काम बिना अभ्यास के संभव नहीं है। जन्म-जन्मान्तरों से मन पर संस्कारों, विकारों की जो परतें पड़ीं और नए-नए विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया, उससे छुटकारा पाने के लिए साधना का अभ्यास नितांत आवश्यक है। उसे केवल सैद्धान्तिक स्तर पर जान लेना पर्याप्त नहीं है और न केवल दस दिनों का एक शिविर ही काफी है। सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारंगत नहीं हो सकता। दस दिन में तो भविष्य में अभ्यास करने की एक विधि हाथ लगती है। अभ्यास पूरे जीवन तक का है। जितना अभ्यास बढ़ता है, उतना धर्म जीवन में उतरता है। जीवन जीने की कला पुष्ट होती है। आत्म-सजगता बढ़ती है तो आचरण सुधरते हैं, चित्त निर्मल, निर्विकार होता है। निर्मल-निर्विकार चित्त मैत्री,

करुणा, मुदिता और समता के सद्‌गुणों से स्वभावतः भरता है। साधक स्वयं तो कृतकृत्य होता ही है, समाज के लिए भी सुख-शांति का कारण बनता है।

सौभाग्य से यह आत्म-निरीक्षण यानी स्व-निरीक्षण का अभ्यास, विपश्यना की साधना-विधि ब्रह्मदेश में दो हजार पच्चीस सौ वर्ष से आज तक अपने शुद्ध रूप में जीवित है। मुझे सौभाग्य से इस विधि को सीखने का कल्याणकारी अवसर प्राप्त हुआ। शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक विकारों एवं आसक्ति भरे तनावों से छुटकारा पाने का रास्ता मिला। सचमुच एक नया जीवन ही मिला। धर्म का मर्म जीवन में उतर सकने की एक मंगल विधा प्राप्त हुई। अब विगत पांच वर्षों से भारत में आया हूँ। यह विधि तो इसी देश की पुरातन निधि है। पवित्र सम्पदा है। किसी भी कारण से यहां विलुप्त हो गई। मैं तो भागीरथ की तरह इस खोई हुई धर्म-गंगा को ब्रह्मदेश से यहाँ इस देश में पुनः ले आया हूँ और जिसे अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूँ।

याद करता हूँ कि विकारों से विकृत होकर मैं कितना दुखी रहा करता था और इन विकारों से छुटकारा पाकर कितना दुःख-मुक्त हुआ, सुखलाभी हुआ। इसलिए जी चाहता है कि अधिक से अधिक लोग जो अपने विकारों से विकृत हैं और इसलिए दुखी हैं वे इस कल्याणकारी विधि द्वारा विकारों से छुटकारा पाना सीखें और दुख-मुक्त होकर सुखलाभी हों। याद करता हूँ कि जब मैं विकारों से विकृत होकर दुखी होता था तो अपना दुख अपने तक सीमित न रखकर औरों को बांटता था। औरों को भी दुखी बनाता था। उस समय मेरे पास बांटने के लिए दुख ही था। अब जी चाहता है कि इस कल्याण-कारी विधि द्वारा जितना-जितना विकारों से उन्मुक्त हुआ और फलतः जो भी यत्किंचित सुख-शांति मिली, उसे लोगों में बांटूं। इसे बाँटने पर सुख-संवर्धन होता है। मन प्रसन्न होता है। इस दस दिन के शिविरों में लोग अक्सर मुर-झाए हुए चेहरे लेकर आते हैं और शिविर समाप्ति पर खिले हुए चेहरों से घर लौटते हैं तो सचमुच मन सुख-संतोष से भर उठता है। अधिक से अधिक लोग इस मंगलकारी विधि का लाभ उठाकर सुखलाभी हों, अधिक से अधिक लोगों का भला हो, कल्याण हो, मंगल हो! यही धर्मकामना है।

भवतु सब्ब मंगलं!

("सूचना केन्द्र, अजमेर में दि० ३० सितम्बर, ७५ को दिए गए सार्व-जनिक प्रवचन का सारांश—संग्राहक : श्री रामेश्वर दास गर्ग")

पाप होय झट रोक ले, करे न बारम्बार।
धर्मवान जाग्रत रहे, अपनी भूल सुधार॥

देखें मन की गंदगी, देखें मन के दोष।
देखत देखत देखते, होए मन निर्दोष॥

मन में उठें विकार जब, अभिमुख होकर देख।
अनासक्त हो देखते, रहे न दुख की रेख॥

जब जब उठे विकार मन, सांस विषम हो जाय।
हलचल होय शरीर में, देख देख मिट जाय॥

व्याकुल ही होता रहा, देख पराए दोष।
लगा देखने दोष निज, तब से आया होश॥

प्यासा पाए धर्म रस, अमृत की सी घूंट।
निर्धन पाए धर्म धन, जाय दुखों से छूट॥

२० आओ सुख बांटें

□ □

जीवन भर हमने लोगों को कितना दुख बाँटा है !

अपनी मूर्खता से जब-जब मन में विकार पैदा किया तब-तब उसे दौर्मनस्य से भरा; और केवल मन से ही नहीं, बल्कि वाणी और काया से भी ऐसे दुष्कर्म कर दिए जिनसे लोग दुखी, संत्रस्त, संतापित हुए ! कितनों के दुखों का कारण बने हम ! कितनों की व्याकुलता का ! दुःख ही-दुःख तो बांटा लोगों को हमने !

अब अपना कोई पुराना पुण्य जागा जिसकी वजह से यह सार्वजनीन, सम्प्रदाय-विहीन अनमोल और मंगलकारी धर्म रत्न प्राप्त हुआ। इस धर्म सम्पत्ति ने कितना सम्पन्न बना दिया हमें ! कितनी विपन्नता धुली ! कितने विकारों से मुक्ति मिली ! कितने दुखों से छुटकारा मिला ! अप्रिय परिस्थिति में भी मुस्कराना आ गया ! मन में मैत्री और करुणा की उर्मियाँ लहराने लगीं ! जीवन धन्य हो उठा । अरे, यही तो सुख है ! यही तो सच्चा सुख है !

आओ, बांटें ऐसा सुख सबको ! ऐसा सुख सबको मिले । ऐसा धर्म सबको मिले । जगत में कोई दुखियारा न रहे । सब अपने विकारों से मुक्त हो जायं, मन की गांठें खुल जायं, मलीनता दूर हो जाय । सभी निर्बैर हों ! निर्भय हों ! निरामय हों ! निर्विकार हों ! निष्पाप हों ! निर्वाणलाभी हों !

इसीलिए आओ, सद्धर्म के प्रति असीम कृतज्ञता और अनन्य निष्ठा का भाव रखते हुए, प्राणियों के प्रति असीम मंगल मैत्री रखते हुए, आओ ! जन-जन के भले के लिए और अपने भले के लिए भी, हम सभी मिलकर अपनी सम्मिलित शक्ति लगाएँ और ऐसा जीवन जीएँ जिससे अधिक से अधिक लोग

सद्धर्म की ओर आकर्षित हों ! अधिक से अधिक दुखियारे लोग सद्धर्म-रस का पान कर सकें और दुःख-मुक्त हो सकें ! इस निमित्त उनकी जितनी सेवा कर सकें, करें ! उन्हें जितनी सुविधा प्रदान कर सकें, करें ! जितनी सहूलियतें प्रदान कर सकें, करें। उन्हें सही मायने में सुखलाभी बनाएँ।

अपना सुख बाँटने में ही हमारा सुख समाया हुआ है, सबका सुख समाया हुआ है।

☆

जन जन में जागे धरम, सुधरे जग व्यवहार ॥
बैर भाव सारा मिटे, रहे प्यार ही प्यार ॥

शुद्ध धर्म जसा मिला, वैसा सब पा जायं ।
मेरे मन के शांति सुख, जन जन मन छा जायं ॥

सुख छाए इस जगत में, दुखिया रहे न कोय ।
जन जन में जागे धरम, जन जन सुखिया होय ॥

शुद्ध धर्म जग में जगे, दूर होय संताप ।
निर्भय हों, निर्वैर हों, सभी होंय निष्पाप ॥

दुखियारा संसार है, जन मन बसे विकार ।
जन जन के मन विमल हों, सुखी होय संसार ॥

ना कोई दुर्मन रहे, ना ही द्वेषी होय ।
जन जन का कल्याण हो, जन जन मंगल होय ॥

"विपश्यना" प्रशिक्षणका प्रमुख ध्यान-केन्द्र महाराष्ट्र (भारत) में स्थापित हुआ है :–

"विपश्यना विश्व विद्यापीठ" (विपश्यना शोध संस्थान)
धम्मगिरि, इगतपुरी-422403.
(नासिक-महाराष्ट्र) फोन नं. इगतपुरी-76.

अन्य केन्द्र :–

1. "विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केन्द्र"
धम्मखेत्त, पोस्ट- वनस्थलीपुरम्,
आफ-12.6 किमी.नागार्जुन सागर रोड,
हैदराबाद- 500861 (आंध्रप्रदेश) फोन नं. तुर्कयाजाल-95.

2. "विपश्यना केन्द्र"
धम्मथली, सिसोदिया गार्डन–गल्ताजी रोड,
जयपुर (राजस्थान) फोन नं. द्वारा- 65414.

3. Vipassana Meditation Centre,
P.O. Box No. 24, Shelburne Falls,
Massachusette–01370 U.S.A,
Tel. (413) 625-2160.

4. Vipassana Meditation Centre,
P.O. Box-103,
Blackheath, N.S.W. 2785, Australia.

कल्याण मित्र
श्रीसत्यनारायणजी गोयन्का
एवं
विपश्यना विश्व विद्यापीठ
के
प्रकाशनों हेतू लिखिये-

VAK
The Spiritual Book Shop
P.O. SRI AUROBINDO ASHRAM
PONDICHERRY-605002
INDIA